मतादर्श

सामाजिक विज्ञान, मानविकी एवं वाणिज्य की शोध पत्रिका

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

निदेशक, एकेडमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विसेज, दिल्ली

मेखला प्रकाशन

एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी

दिल्ली-110089

वर्ष : 10 **अंक** : 4 ❑ अक्टूबर-दिसम्बर, 2017

मतादर्श

मतादर्श भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

सलाहकार संपादक
डॉ॰ गिरीश मिश्र

संपादक
शैलेन्द्र सेंगर

संपादक मंडल
डॉ॰ आर. एन. कुंअर
डॉ॰ बामेश्वर सिंह
डॉ॰ विद्या भूषण श्रीवास्तव
डॉ॰ रवीन्द्रनाथ राय
डॉ॰ अमरकान्त सिंह
डॉ॰ लक्ष्मेश्वर ठाकुर

साज-सज्जा
पंकज झा

संपादकीय सम्पर्क:
448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,
दिल्ली-110091
फोन : 011-22753916, 47541851, 64683387
e-mail : editorialindia@gmail.com

मूल्य : ₹ 1500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक अलका सिंह द्वारा एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी दिल्ली-110089 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

Editorial

The farmers' crisis arising out of two consecutive years of deficit monsoon has put a lot of focus on the state of Indian agriculture and its future readiness recently. The normally urban tinted media has also for once turned its attention to the problems afflicting India's agriculture sector, and distress of farmers who are disproportionately dependent for their livelihood on nature's benevolence. The rising food prices over the past two years and the cascading effect on the entire economy of a slowing agriculture sector has shown us evidently that India cannot dream about a two digit growth rate unless the shackled rural economy is freed and its engine speeded up. The Union Budget of 2016-17 appropriately took cognisance of the fact that the closely intertwined farm sector and rural economy need more than piecemeal benefits to sustain the large population dependent on this sector. The prediction of a healthy monsoon from the weatherman has also brought much relief. However, we need much more than budget allocations and good rainfall to make agriculture sustainable in the long run. We need a broader vision and long term policy approaches. Despite supporting almost 60 percent of India's total population, the contribution of agriculture to the GDP has been consistently declining. It currently stands at around 15 percent. A sector that provides work to more than half of the country's population contributing less than 1/5th to its GDP indicates a clear imbalance. While India grew by over 7 percent per cent last year, agriculture remained more or less stagnant. India's food grain production which has consistently been abundant over the past several years is showing signs of plateauing, suggesting saturation. These statistics point to the need for a major reshuffle in the rural economy. It clearly indicates that an unsustainably excessive part of the population is dependent on one sector and that we need to wean away labour out of agriculture to other sectors. The prevailing situation also calls for a need for major policy measures to boost the rural economy and create new infrastructure for the farm sector. What we need is a dedicated policy push to create alternate avenues of employment and work in rural areas. This calls for major skill development programs in rural areas which can push a section of the population towards non-farm activities and reduce overcrowding of the agriculture sector. Alternative income avenues to create jobs outside agriculture in rural areas include a policy push to help develop the retail sector, improve education, boost rural entrepreneurship, develop tourism, cottage and handicraft industries, horticulture, fisheries and create better connectivity with urban centres and infrastructure to make business ideas viable.

—Editor

इस अंक में

इतिहास

महर्षि दयानंद और भारतीय राष्ट्रवाद–*प्रेमनंदु राज जैन* 7

उत्तराखण्ड के शिक्षा के विकास में मशिनरियों का योगदान–*सोहन महतो* 13

भारत में शिक्षा: एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य–*डॉ० दिवाकर त्रिपाठी* 20

रामायण कालीन समाजिक व्यवस्था–*नवीन* 25

ब्रिटिश भारत में मजदूर वर्ग का उत्थान एवं मजदूर आंदोलन (1850-1908)–*डॉ० संजीव कुमार* 28

अर्थशास्त्र

बिहार में कृषि सांख्यिकी की वर्तमान स्थिति एवं चुनौतियाँ–*डॉ० मनोज कुमार यादव* 35

हिन्दी

हिन्दी कहानी की विकास यात्रा–*विनय कुमार* 41

'चंद्रगुप्त' में वर्णित प्रसाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना–*संजीव शर्मा* 45

संस्कृत

अष्टांग योग–*डॉ० सुनिल कुमार तिवारी* 49

दायभाग में स्त्रीधन स्वरूप–*सुचिता यादव* 53

राजनीति विज्ञान

एम० एन० राय एवं वामपंथी चिन्तन–*ब्रज भूषण प्रसाद* 62

भारन में साझा सरकार की प्रचलन: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन–विभा कुमारी 72

भारत में जमीनी जनतंत्र: पंचायती राज व्यवस्था–*चन्दन कुमार* 78

आपातकाल के बाद प्रेस की स्वतंत्रता–*कुमारी रीना* 87

उत्तर-पूर्वी राज्यों में अलगाववाद भारत-म्यांमार संबंध–*डॉ० पप्पु कुमार* 90

भारत में लोक सेवायें: साख पर सवाल–*मनीष चन्द्र* 104

समाजशास्त्र

डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक विचार–डॉ. आनन्द वर्द्धन 111

वाणिज्य

कृषि उपज मड़ियों का परिचयात्मक अध्ययन (रायपुर संभाग के विशेष संदर्भ मे)
—डॉ० गिरजा शंकर गुप्ता 115

HOME SCIENCE

Principles of Child Development—*Dr. Archana Kumari* 119

Home and Community Influences in Social Development—*Deepa Kumari* 123

Nutritional Status of Scheduled Castes School Going Boys and Girls in and around Gaya of Bihar State —*Kumari Soni; Suprita Suman* 127

ENGLISH

Acceptance of Life: A Recurrent Theme in the Major Novels of Kamala Markandaya—*Mahesh Kumar* 131

Effects of Problems in Speaking English language by Students at Graduate level in India—*Dr. Anupama Singh; Girija Shankar* 135

Teaching English Language in Schools in India- Problems and Remedies —*Dr. Arun Kumar* 139

HISTORY

Wood Carving Techniques in Ancient India—*Prof. (Dr.) Arvind Kumar Singh* 145

Whabi Movement In India with special Reference of Punjab Regions —*Manish Kumar* 149

Buddhist Monasteries in Bhutan—*Dr. Shekhar Singh* 155

Coins of the Mughal Era: Untold Dimensions—*Dr. Jayveer Singh; Sujeet Prasad* 158

POLITICAL SCIENCE

Refurbishing Indian Politics: Power to the States for Survival of the Centre —*Dr. Kumkum Narayan* 165

The Stability of Multi-party Democracy in India—*Dr. Jainendra Kumar Yadav* 169

PSYCHOLOGY

A Comparative Study of Adjustment Pattern of High and Low Achievers as Related to Their Academic Achievement—*Dr. Shashi Kala Singh* 172

A Comparative Study - Insecurity among Co-Education and Single Gender Education School Students—*Dr.Smritikana Mitra Ghosh* 176

Job Satisfaction and Industrial Psychology—*Sidam Singh Munda* 180

ANTHROPOLOGY

Anthropological Survey of Indian Maravars Tribes—*Kumari Sunita Chaudhary* 183

ECONOMICS

Goods and Service Tax: Advantages and Challenges—*Parveen Kumari* 187

PHYSICAL EDUCATION

Yoga for Diabetes Mellitus: A Holistic Approach to Health—*Mr. Elias Pinto* 192

महर्षि दयानंद और भारतीय राष्ट्रवाद

प्रेमनंदु राज जैन

इतिहास विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

भारतीय पुनर्जागरण काल के महान नेताओं में स्वामी दयानंद सरस्वती का अनूठा स्थान है। भारत के इस महान सपूत ने करोड़ों भारतवासियों के मन पर छाए अज्ञान रूपी अंधकार को हटाने और समाज में धर्म के नाम पर व्याप्त अंधविश्वास, मिथ्यावाद, धर्मान्धता तथा अन्य कुरीतियों और दुष्प्रथाओं को समाप्त करने के लिए सतत प्रयत्न किया। उन्होंने भारतीय समाज की वैज्ञानिक और तर्कसंगत आधार पर पुनर्रचना करके उसे राजनीतिक मुक्ति पाने योग्य बनाने का जो प्रयत्न किया वह अत्यंत सराहनीय है। उन्होंने भारतीय समाज और राष्ट्र का पुनर्निर्माण करने और देशभक्ति की भावना उत्पन्न करने के उद्देश्य से 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। स्वामी दयानन्द और आर्य समाज का राष्ट्रवादी भावनाओं को भारत में फैलाने में महत्वपूर्ण योगदान है।[1] इसने ही वह पृष्ठभूमि तैयार की, जिसके साये में राष्ट्रवादी और उग्रवादी विचारधाराएँ आगे चल कर फली-फूली। महर्षि दयानन्द की दृष्टि भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरूत्थान तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उन्होंने उन कल्पनाओं और विचारों को जन्म दिया जिनके सहारे भारतीय राष्ट्रवाद 1905 के बाद परवान चढ़ा। मानव कल्याण के लिए अपना सर्वस्व त्याग देने वाला यह व्यक्ति निश्चय ही एक महान विभूति था।

महर्षि दयानन्द ने जिस समय कार्यक्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय तक भारतीय राष्ट्रवाद पर मुख्यतया उन मध्यवर्गीय बुद्धिवादियों का ही प्रभाव था जो अंग्रेजी शिक्षा की उपज थे। उनके विचार, उनकी आशाएँ, उनकी आकांक्षाएँ सभी पश्चिमोन्मुखी थीं। वे ब्रिटिश साम्राज्य के वफादार नागरिक होने का स्वांग भी करते थे। जड़विहीन ये, श्रेष्ठ भारतीय परंपराओं और उच्च आदर्शों से बेगाने लोग प्रेरणा के लिए बर्क, बेंथम, मिल, स्पेंसर जैसे पाश्चात्य विचारकों का मुँह जोहते थे। उनमें यह कहने का साहस नहीं था कि भारत पश्चिम के समकक्ष ही नहीं, कुछ मामलों में उनसे भी श्रेष्ठ है। किंतु दयानंद ने सदैव स्वराज्य का गुणगान किया। वह देशीय राष्ट्रवाद के उन्नायक थे। उन्होंने भारतवर्ष के शानदार अतीत में विद्यमान स्वराज्य के आधार पर राष्ट्रवाद का नारा बुलंद किया। उनकी उद्घोषणा थी कि विदेशी शासन चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, वह स्वदेशी शासन का स्थान नहीं ले सकता।[2]

दयानन्द के राष्ट्रवाद का आधार शक्तियोग था। इसका अर्थ है स्वस्थ तन, मन एवं प्राणों की साधना। उपनिषदों में कहा गया है कि शरीर एक प्रमुख साधन है जिसका मजबूत और सुरक्षित रहना अत्यावश्यक है। स्वामी जी का सुगठित मजबूत शरीर इसका सुंदर उदाहरण था। शारीरिक शक्ति और सांसारिक विषयों की अवहेलना में रत राष्ट्र के लिए यह नया संदेश था। जब वे प्रचार कार्य में आए तो अनेक लोगों ने द्वेषवश उन पर तरह-तरह के आक्रमण किए। किंतु महर्षि ने पूरी मजबूती से आक्रमणों को झेल लिया। स्वामी जी जब चलते थे तो नवयुवकों को भी उनके साथ-साथ चलने में दौड़ना पड़ता था। शारीरिक शक्ति को इस प्रकार महत्व देकर स्वामी जी ने भारत के नौजवानों के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया। मानसिक गुलामी में जीने वाले भारतीय नवयुवकों के लिए उनका जीवन अत्यंत प्रेरणास्पद और चुनौती उपस्थित करने वाला रहा है। स्वामी जी ने अपने द्वारा लिखित सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में शारीरिक उन्नति करने का उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि इसे जीवन में क्रियान्वित भी किया। शरीर योग के ऊपर बल प्रदान, उनका एक विशिष्ट राष्ट्र निर्माण मूलक योगदान है।[3]

दयानन्द मानते थे कि आत्मविश्वास की भावना के बिना स्वराज नहीं प्राप्त किया जा सकता। स्वराज और आत्मविश्वास की चर्चा विस्तार के साथ सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में की गई है।[4] राज्य के कर्त्तव्यों की चर्चा करते हुए दयानंद ने स्वराज की कल्पना की है। उनके अनुसार राज्य को स्वयं अपनी रक्षा और स्थायित्व के लिए सभी नागरिकों को शिक्षा प्रदान करना चाहिए। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि अंग्रेज सरकार सभी को शिक्षा नहीं दे रही थी और ऐसा करके वह भारत के करोड़ों सामान्य नागरिकों को शिक्षा पाने के अधिकार से वंचित कर रही थी। वस्तुत: ब्रिटिश सरकार एक निरंकुश शासन चला रही थी। दयानन्द निरंकुशता के विरोधी और लोकतंत्र के समर्थक थे। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक कहा कि देश में एक विद्यार्थ सभा, एक धर्मार्थ सभा और एक राजार्य सभा की स्थापना की जानी चाहिए। स्वामी जी ने कहा कि निरंकुश शासक सत्ता के मद में चूर हो कर प्रजा को बर्बाद कर देता है। जिस प्रकार हिंस्र जंतु मोटे-ताजे जानवरों को खा जाते हैं ठीक उसी तरह एक निरंकुश शासक राज्य को नष्ट कर डालता है। जिस समय सारा देश राजनीतिक असंतोष से जल रहा था, उस समय दयानन्द राज्य और शासन के सामान्य कर्त्तव्यों की ओर लोगों का ध्यान दिला कर भारत के राष्ट्रीय पुनर्जागरण की शक्तियों का निर्माण कर रहे थे तथा लोगों के मानसिक दायरे को विस्तृत कर रहे थे। उनके अंदर जीवन और देश के प्रति उच्चतर मूल्यों का सृजन कर रहे थे। भारत में आत्म विवेचना की तीव्र पीड़ा और सांस्कृतिक तथा बौद्धिक जागृति के एक गहन दौर का अब सूत्रपात हो चुका था।

दयानन्द का राष्ट्रवाद गौरवशाली अतीत तथा पुनरूत्थानवाद पर निर्मित था। उनके पुनरुत्थानवाद ने सभी मध्यकालीन अंधविश्वासों, कुरीतियों, रूढ़ियों एवं अज्ञान से लोहा लिया। उन्होंने सत्य, नैतिकता एवं सदाचार की स्थापना की। दयानन्द ने वेदों की सहायता से भारतीय राष्ट्रवाद के लिए नैतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि तैयार की। उन्होंने व्यक्ति के नैतिक शुद्धिकरण और सामाजिक नव-निर्माण की आवश्यकता पर जोर दिया। उनके वैदिक आदर्शवाद ने भारतवर्ष में पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार की भूमिका अदा की।

स्वामी दयानन्द का विचार था भारत का पुनरुत्थान शिक्षा के द्वारा ही हो सकता है। उन्होंने स्त्री शिक्षा पर पर्याप्त बल दिया। वह चाहते थे कि वैदिक काल में स्त्री को जो गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था वह उसे फिर से प्राप्त हो। उन्होंने स्त्रियों की पूर्ण विमुक्ति का समर्थन किया। दयानन्द ने बाल विवाह के खिलाफ जेहाद छेड़ दिया और अपने समर्थन में लोकमत भी तैयार किया। दयानन्द ने विधवा विवाह का समर्थन किया तथा उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि वेदों में ऐसी अमानुषिक प्रथा का समर्थन कहीं नहीं किया गया है। आर्य समाज और उसके अनुयायियों ने उनके इन विचारों को फैलाने के लिए बड़ी संख्या में अनाथालय, विधवाश्रम और महिलाओं के लिए पाठशाला बनवाए।

दयानन्द यह बात जानते थे की अंग्रेज सरकार द्वारा उस समय अपनाई गई शिक्षा नीति बिल्कुल बेकार थी क्योंकि इसमें चरित्र निर्माण का कोई स्थान नहीं था। अत: उन्होंने एक अलग शिक्षा योजना का प्रतिपादन किया जिसमें सभी जाति वर्गों के लिए अनिवार्य शिक्षा थी। सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास के अनुसार माता-पिता, शिक्षकों और रिश्तेदारों का परम कर्त्तव्य है कि वे बच्चों को अच्छी और ठोस शिक्षा दें तथा उन्हें सच्चरित्र और सुसंस्कृत बनाएँ। आर्य समाज ने स्वामी जी के सिद्धांतों को व्यवहार रूप में लागू किया। उनकी मृत्यु के बाद, 1886 में लाहौर में डी.ए.वी. कॉलेज की स्थापना हुई। देश के अन्य भागों में भी डी.ए.वी. स्कूल और कॉलेज खोले गए। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को बढ़ावा देने हेतु हरिद्वार में गुरुकुल कांगड़ी बना। इन संस्थानों से पढ़कर निकले हुए छात्रों ने

राष्ट्रीय आन्दोलन में बढ-चढ़कर हिस्सा लिया। ए.आर. देसाई का भी मानना है कि आर्य समाज की गतिविधियाँ राष्ट्रवादी और प्रजातांत्रिक भावनाओं से प्रेरित रहती थीं।[5]

दयानन्द का विचार था कि भारत के दलितों का उद्धार करना उतना ही जरूरी है जितना कि जाति प्रथा की कठोरता को समाप्त करना। तभी भारत का निर्माण एक ठोस आधार पर किया जा सकता है। स्वामी जी ने समाज की नीची जातियों के उत्थान कार्यों में बहुत मनोयोगपूर्वक काम किया। स्वामी दयानन्द जन्म से जाति के विरोधी थे।[6] उनका मानना था कि हर व्यक्ति को अपना कार्य, स्वभाव, गुण और योग्यता के आधार पर मिलना चाहिए। इन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए दो तरीके अपनाए गए। (1) जिन जातियों को यज्ञोपवीत धारण का अधिकार नहीं था उन्हें यह अधिकार प्रदान किया गया। (2) अछूतों को स्पर्श्य बनाया, स्पृश्य जातियों के समकक्ष लाकर उन्हें उच्चतर सामाजिक आदर्शों की शिक्षा दी जाने लगी जिसका उद्देश्य अंतत: यह था वे अन्य हिंदुओं के साथ बराबरी के स्तर पर आ सकें।[7] वस्तुत: दयानन्द और आर्य समाज का उद्देश्य हिंदू सामाजिक व्यवस्था का प्रजातंत्रिकरण करना था। दयानन्द के विचारों को उनके महान शिष्य लाला लाजपत राय तथा अन्य अनुयायियों ने आगे बढ़ाया। इस तरह आर्य समाज ने जहाँ एक ओर विभिन्न जातियों के हिंदुओं को एक दूसरे के करीब लाया, वहीं उसने हिंदू समाज के अछूत वर्गों को उठाने की कोशिश की। इस प्रयत्न का महत्व इसलिए ज्यादा हो जाता है क्योंकि तब सरकार भी अछूतों तथा दलितोद्धार के कार्यों में विशष रूचि नहीं लेती थी क्योंकि सरकार को भय था कि कहीं सरकार समर्थक उच्च जाति के लोग नाराज न हो जाएँ।

दयानन्द सरस्वती ने स्वदेशी पर बहुत जोर दिया। देश के आर्थिक नवनिर्माण और देश की सामाजिक राजनीतिक एकता के लिए यह आंदोलन चलाना बहुत जरूरी था। दयानन्द की स्वदेशी की कल्पना ने सारे देश को आकृष्ट किया। स्वामी दयानन्द ने भाव, भाषा और वेशभूषा-तीनों स्तरों पर स्वदेश प्रेम का परिचय दिया। वे स्वदेश निर्मित मोटा कपड़ा ही पहनते थे तथा वे व्यवहार एवं स्वरूप के स्तर पर विशुद्ध आर्य संन्यासी थे। उनके अनुयायियों ने स्वदेशी का जगह-जगह प्रचार किया। इस प्रकार स्वतंत्रता की राष्ट्रीय लड़ाई वर्गों तक सीमित न रह कर अब जन संघर्ष में बदल गई। सद्धर्म प्रचारक, आर्य गजट, द पंजाबी, द आर्य मैसेंजर आदि पत्रिकाओं ने स्वदेशी की वकालत की तथा भारतीयों से स्वदेशी आंदोलन में सक्रिय भाग लेने की अपील की। उन्होंने गोरक्षा के लिए गौरक्षिणी सभा की स्थापना की, जिसके पीछे आर्थिक उद्देश्य थे। किंतु कुछ वामपंथी इतिहासकारों का मानना है कि इससे सांप्रदायिकता को बढ़ावा मिला। किंतु उनका यह विचार एक पक्षीय लगता है। गौ के प्रश्न पर साम्प्रदायिक तनाव उत्पन्न करने के पीछे मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्वों की घृणित और षड्यंत्रकारी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। शेखर बंद्योपाध्याय का भी मानना है कि स्वामी दयानन्द जब तक जीवित रहे तब तक गौरक्षा आन्दोलन का स्वरूप मुस्लिम विरोधी नहीं था।[8]

स्वामी दयानन्द हिन्दी के प्रबल समर्थक थे और उसे राष्ट्र भाषा का दर्जा दिलाना चाहते थे। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश भी हिन्दी में लिखा और वेदों का भाष्य भी। दयानन्द ने अपनी शिक्षा और प्रवचन भी हिन्दी में दिए। उससे उत्साहित होकर हिन्दुओं की गैर ब्राह्मण जातियों ने एक नए बौद्धिक आत्मविश्वास का अनुभव किया।

सन् 1857 की क्रांति के अनुभव से स्वामी दयानन्द को लगा कि कई देशी रियासतों की भूमिका देशभक्ति से युक्त नहीं थीं। अत: उन्होंने राजपूताने की ओर विशेष ध्यान दिया। इसका सुपरिणाम भी

सामने आया और देशी राज्यों की व्यवस्था में सुधार आने लगा। कई देशी रियासतों के शासक उनके शिष्य थे। ब्रिटिश शासन के लिए यह असह्य हो चला था कि महर्षि दयानन्द राजाओं महाराजाओं में स्वाभिमान जगाने का काम कर रहे थे। उनकी निर्भीकता और अभय के संदेश ने भारतीयों का आत्मबल बढ़ाया तथा उन्हें ब्रिटिश दासता से छुटकारा पाने के लिए व्याकुल कर दिया।

इस प्रकार आर्य समाज आंदोलन ने उत्तर भारत के एक बड़े भाग में सामाजिक एकता, आपसी सहयोग और बहुमुखी जागरण का संदेश दिया। समाज के प्रयत्नों के फलस्वरूप सभी वर्गों के हिन्दू एक दूसरे के करीब आए तथा समाज द्वारा हिन्दी के प्रयोग एवं उसके विकास से वैचारिक एकता को भी बल मिला। वस्तुत: आर्य समाज का ध्येय हिन्दू धर्म के सर्वसमन्वयवादी भावना को पुनर्जागृत करना था।[9] सबसे बढ़कर आर्य समाज ने भारत की प्राचीन उपलब्धियों को प्रकाश में लाया। इससे देशवासियों में भरपूर आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान का भाव उत्पन्न हुआ। इसका भावी राष्ट्रीय आंदोलन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

यद्यपि दयानन्द का 1883 में निधान हो गया लेकिन कालांतर में उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने राष्ट्रीय आंदोलन में महती भूमिका अदा की। वेलन्टाइन शिरोल का मत था कि भारतीय अशांति वास्तव में हिन्दू अशांति है और इस अशांति को फैलाने मे आर्य समाज की प्रबल भूमिका रही है। शिरोल तो आश्वस्त था कि आर्य समाज बाहर से सामाजिक धार्मिक सुधार आंदोलन है लेकिन इसका मूल उद्देश्य तो स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करना है।[10]

दयानन्द के सार्वजनिक जीवन के संबंध में दो मत हैं। एक वर्ग उन्हें हिन्दू समाज की एकता का प्रवर्तक मानता है जबकि दूसरा वर्ग उन्हें मुस्लिम और ईसाई विरोधी मानता है। प्रो. बिपन चन्द्र यह तो मानते हैं कि दयानन्द और आर्यसमाज ने राष्ट्रवादी भावनाओं को बढ़ावा दिया, किंतु वो इसके कार्यों को साम्प्रदायिकता के बढ़ने का कारण भी मानते हैं।[11] यह ठीक है कि स्वामी जी वैदिक धर्म की पुन: स्थापना करना चाहते थे। वे जन्म से हिन्दू थे, हिन्दुओं के बीच में रहते थे, एक हिन्दू संन्यासी के शिष्य थे और उनके आर्य समाज को हिन्दुओं ने आर्थिक सहायता दी थी। लेकिन इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि वे मुस्लिमों के राजनीतिक तथा आर्थिक हितों के विरोधी थे। उनका विरोध तो विश्व के धर्मशास्त्रों की उन शिक्षाओं से था जिन्हें वे बुद्धि विरोधी समझते थे। उन्होंने इस्लाम और ईसाई मत की जो बाते मिथ्या थीं केवल उनका विरोध किया, ठीक उसी तरह जिस तरह हिन्दू धर्म का। लार्ड लिटन द्वारा आयोजित दिल्ली दरबार के अवसर पर उन्होंने धर्मों की सभा का आयोजन किया तथा उसमें हिन्दू और मुसलमानों की एकता पर बल दिया। उन्होंने उपदेश दिया कि सभी धर्म अपनी विभिन्न मान्यताओं के साथ जीवित रह सकते हैं। उनकी मृत्यु पर सर सैय्यद अहमद खाँ ने कहा था- "स्वामी दयानन्द के अनुयायी उन्हें देवता-तुल्य जानते थे और वह निस्संदेह इसी योग्य थे। वह इतने विद्वान और अच्छे आदमी थे कि प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिए सम्मान के पात्र थे।"[12] वहीं रेवरेण्ड सी.एफ. एण्ड्रूज का मत था- "स्वामी दयानन्द के उच्च व्यक्तित्व और चरित्र के विषय में निस्संदेह सर्वत्र प्रशंसा की जा सकती है वे सर्वथा पवित्र तथा अपने सिद्धांतों के अनुसार आचरण करने वाले महानुभाव थे। वह सत्य के अत्यधिक प्रेमी थे।"[13] डा. ग्रिसबोल्ड जो लाहौर में रहता था, ने कहा था- "स्वामी दयानन्द ब्राह्मणों के प्रभाव एवं दवाब से वैसे ही मुक्त हो गए थे जैसे चर्च के प्रभाव से लूथर।"[14]

यह सत्य है कि दयानन्द का आदर्श वैसा अखिल भारतीय राष्ट्रवाद नहीं था जैसा हम आज उसे समझते हैं। उन्होंने हिन्दू धर्मशास्त्रों को अपना आधार बनाया और उनका प्रभाव भी हिन्दुओं तक ही

सीमित था। ऐसे उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मुसलमान दयानन्द को शत्रुता की भावना से देखते थे। किंतु इसमें दोष मुस्लिम साम्प्रदायिक दृष्टि का भी कम नहीं है। यह मानना पड़ेगा कि भारतीय राष्ट्रवाद का मुख्य तत्व हिन्दू राष्ट्रवाद ही रहा है जिसे दयानन्द के जीवन तथा शिक्षाओं से गहरी प्रेरणा मिली थी।[15] के.पी. जायसवाल तो दयानन्द का हिन्दू आत्मा को जगाने में वही योगदान मानते हैं जो मार्टिन लूथर का यूरोपीय आत्मा को जगाने में रहा है।[16] वहीं रोमा रोलां ने लिखा है–जब सारा देश सो रहा था तब वे अकेले ही थे जिन्होंने जाग–जाग कर सबकी रक्षा की।[17] राष्ट्रवाद की सदैव यह मांग हुआ करती है कि सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के साहचर्यमूलक बंधन सुदृढ़ हों। इसलिए यह आवश्यक होता है कि व्यक्ति अपने स्थानीय स्वार्थमूलक लगाव तथा पसंद से ऊपर उठना सीखे। अत: यदि मान भी लिया जाये कि दयानन्द हिन्दू एकता के समर्थक थे, तो भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को बल दिया क्योंकि यदि हिन्दू जिनका भारत में भारी बहुमत था, संगठित हो जाते तो वे निश्चय ही ब्रिटिश राजनीतिक शक्ति को चुनौती दे सकते थे।

वस्तुत: दयानन्द के राष्ट्रवाद का स्वरूप आध्यात्मिक था। यह राष्ट्रवाद आधुनिक राष्ट्रवाद से भिन्न है। आधुनिक राष्ट्रवाद मुख्यत: भौतिकवाद, जड़वाद और धर्मनिरपेक्षतावाद पर आधारित है। यह राष्ट्रवाद अधिनायकवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, प्रजातिवाद, शोषण आदि दोषों से ग्रसित पाया जाता है। दयानन्द का आध्यात्मिक राष्ट्रवाद मानव मात्र की स्वतंत्रता पर अवलम्बित है। यह घोषणा करता है कि जन्म, जाति या नस्ल से कोई ऊँचा या नीचा नहीं होता। मनुष्य की श्रेष्ठता, अश्रेष्ठता के आधार, गुण, कर्म और स्वभाव होते हैं। इटली और जर्मनी में जो राष्ट्रवाद का विकृत रूप देखने को मिला उसमें अंशत: अविवेकवाद और भावनावाद की प्रधानता थी। किंतु दयानन्द ने वैदिक साहित्य के आधार पर जिस आध्यात्मिक राष्ट्रवाद और समाज का चित्रण किया है, वह जड़वाद के स्थान पर आत्मवाद को, मानव असमानता के स्थान पर मानव समानता को और निरे अविवेकवाद के स्थान पर बुद्धिवाद और भावनावाद के समन्वय को प्रश्रय देता है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द भारतीय राष्ट्र के महान निर्माता थे और उनका आधुनिक भारत के एक महान निर्माता के रूप में सदैव सम्मान किया जाएगा। भारतवर्ष के पुनरूत्थान काल में महर्षि का योगदान धर्म, समाजसुधार, राष्ट्रवाद तथा शिक्षा के क्षेत्र में असाधारण था। वस्तुत: उन्होंने आगे आने वाली सभी सामाजिक एवं राजनीतिक सुधारों तथा स्वाधीनता संग्राम की पूर्व तैयारी प्रदान की। विशेषत: उस समय जब भारतीय अपनी समस्त विरासत तथा स्वयं को हीनता की दृष्टि से देखने लगे थे। उनके पुनरुभ्यदयवाद को कभी–कभी प्रतिक्रियावादी कह दिया जाता है किंतु यह मात्र हठधर्मिता और अल्पबुद्धिवाद है। उनके वेदवाद ने देश को शक्ति, कर्मठता, साहस और अभय प्रदान किया। उन्होंने हिन्दू धर्म को विवेक, स्वतंत्रता, आधुनिकता और लोकतंत्र के पाँवों पर खड़ा कर दिया जिससे हिन्दू एकता के आंदोलन को भारी बल मिला। किंतु उन्होंने कभी यह नहीं सोचा कि भारत में बसने वाले अन्य संप्रदायों के हितों का विरोध करके हिन्दुओं की एकता को सुदृढ़ किया जाये। दयानन्द आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के वाहक हैं जो कि आत्मिक चैतन्य से दीक्षित है। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद कोरी भावना, संकल्प, अविवेक, नेता के नेतृत्व एवं स्वराष्ट्र की सर्वोपरिता पर आधारित नहीं है। इसमें बुद्धिवाद तथा मानवतावाद का समन्वय पाया जाता है। यह उच्चतम आदर्शों से ओत–प्रोत है।

संदर्भ सूची:

1. प्रधान, रामचंद्र, राज टू स्वराज, मैकमिलन, गुड़गाँव, 2013, पृष्ठ 64
2. ग्रोवर, बी.एल., मेहता, अलका, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास: एक नवीन मूल्यांकन, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, दिल्ली 2011, पृष्ठ 276
3. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 2007, पृष्ठ 114
4. सरस्वती, दयानंद, सत्यार्थ प्रकाश, षष्ठ समुल्लास, श्री घूडमल प्रह्लाद कुमार आर्य धर्मार्थ न्यास, हिण्डौन सिटी, राजस्थान, 2012, पृष्ठ 116-145
5. देसाई, ए.आर. सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई, 2014, पृष्ठ 273
6. राय, लाला लाजपत, आर्य समाज, विजय कुमार गोविन्दराम हासाराम प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृष्ठ 153
7. राय, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 162-163
8. बंद्योपाध्याय, शेखर, फ्रॉम प्लासी टू पार्टीशन: ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया, ओरियेण्ट ब्लैकस्वॉन, दिल्ली, 2014, पृष्ठ 241
9. चोपड़ा, पी.एन., पुरी, बी.एन., दास, एम.एन, भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास, खण्ड 3, मैकमिलन, दिल्ली, 2009, पृष्ठ 118
10. कमल, के.एल., भारतीय राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2010, पृष्ठ 144
11. चंद्र, बिपन, हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया, ओरियण्ट ब्लैकस्वॉन, दिल्ली, 2013, पृष्ठ 225
12. विद्यावाचस्पति, इन्द्र, महर्षि दयानंद, विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद प्रकाशन, दिल्ली 2013, पृष्ठ 192
13. वही, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 193
14. गौतम, पी.एल., आधुनिक भारत का इतिहास, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, 2004 पृष्ठ 169
15. वर्मा, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 127
16. वर्मा, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 127
17. कमल, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 145

उत्तराखण्ड के शिक्षा के विकास में मिशनरियों का योगदान

सोहन महतो

इतिहास विभाग, गया कॉलेज, गया

औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ ही कुमाऊँ की धार्मिक व्यवस्था को ईसाईयत से चुनौती मिलना स्वभाविक था क्योंकि सरकार का परोक्ष छूट ईसाई धर्म को प्राप्त था, यद्यपि कुमाऊँ से जुड़े हुए हिमालय के प्रति (मुख्यत: तिब्बत के प्रति) आकर्षण अंग्रेजों के भारत आगमन के साथ ही प्रारम्भ हो चुका था। 1624 ई० में सर्वप्रथम अन्तोनियों दे आन्द्रादे ने श्रीनगर-गढ़वाल से होकर तिब्बत की यात्रा की थी। पुन: 1625 में उसने तिब्बत यात्रा की तथा छपराड़ में गिरजाघर बनाया। सत्रहवीं सदी में ईसाई पादरियों का भ्रम था कि तिब्बत के गोरी चमड़ी वाले निवासी ईसाई के अनुयायी है, पर धर्म के प्रचारकों से सम्बन्ध न रहने से ईसाई मत के कुछ सिद्धान्तों को भूल चुके थे। 1936 ई में डी० पेरिस व दौस अंजोस नाम दो पादरी श्रीनगर के प्रचार केन्द्र में भेजे गये। दौस अंजोस की मृत्यु हो जाने पर 1637 में पादरी मोपलिक को श्रीनगर भेजा गया था। 1657 से जैसुइट पादरियों ने श्रीनगर में निवास बन्द कर दिया। इसके लगभग आगामी 200 वर्षो तक सम्पूर्ण उत्तराखण्ड में ईसाई धर्म प्रचारकों की गतिविधियां ठप्प सी हो गई।[1]

1815 ई० में कुमाऊँ अधिकार के पश्चात् प्रारम्भ में अंग्रेजों ने स्थानीय धर्मरीति-रिवाजों में हस्तक्षेप नहीं किया और 1824 में बिशप हैबर ने इस क्षेत्र की यात्रा की और ईसाईयों को यहाँ से टारटरी तक फैलाने का सपना देखा,[2] लेकिन मिशनरी का सक्रिय कार्यक्रम 1850 के बाद हुआ। इस बीच मिशनरी सोसाइटी का पादरी खैरैण्ड बडन अल्मोड़ा पहुँचा तथा यहाँ पर लंदन मिशनरी सोसाइटी की स्थापना की। कुमाऊँ कमिश्नर रैमजे तथा उसके मित्रों ने बडन को सब प्रकार से सहायता देने का वचन दिया।[3] बडन द्वारा कुमाऊँ (अल्मोड़े) में स्कूल खोला गया जो कि आज "रामजै स्कूल" के नाम से विख्यात है, यह स्कूल कुमाऊँ का प्रथम स्कूल था।[4] इस स्कूल के अलावा एक लड़कियों का स्कूल, अस्पताल, एक अनाथालय, एक पुस्तकालय की स्थापना की गई। मिशन के इन कार्यों ने निर्धन तथा निम्न वर्ग के परिवारों को तेजी से प्रभावित किया, किन्तु बडन के द्वारा कुमाऊँ में ईसाई धर्म का प्रचार अधिक सरल कार्य न था, क्योंकि गो मांस का भक्षण करने वाले ईसाई धर्म के प्रति कुमाऊँ वासियों का आकर्षण होना इतना सरल नहीं था फिर भी बडन के प्रयासों से ईसाई धर्म प्रचारकों ने नैनीतान और अल्मोड़ा में प्रचार कार्य तत्परता से किया। साथ ही ब्रिटिश शासन के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि उनको अपने साम्राज्य का विस्तार तथा स्थायित्व में ईसाई मिशनरियों के रुप में एक आक्रमक सहयोगी मिला। जिसने मानवतावादी गतिविधियों और धर्मांतरण को कोशिशों द्वारा निम्न जातीय, निम्न वर्गीय परिवारों में ब्रिटिश सत्ता के प्रति समर्थन को व्यापक रुप दिया।[5] देखा जाय तो 1850 के बाद से ही यहाँ पर प्रभावी होते जा रहे ईसाई मिशनरियों ने मानवतावादी गतिविधियों विशेषत: शिक्षा सुविधाओं तथा स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार व निम्न वर्गों को उन्नत करने के बहाने से ईसाई मत का प्रचार किया। उनका उद्देश्य न केवल अधिकाधिक लोगों को ईसाई धर्म में रुपांतरित करना था, वरन् ब्रिटिश सत्ता के प्रति स्थानीय जनमत में निष्ठा व समर्थन को भी बढ़ाना था, औपनिवेशिक शासकों के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सहयोग और समर्थन से न केवल

उन्हें अपनी गतिविधियों के विस्तार में मजबूती मिली बल्कि साथ ही उन्होंने इसे एक आन्दोलन का रुप दे दिया। विशेषकर शिक्षण सुविधाओं व गतिविधियों में उनकी सक्रिय निष्ठा ने उनकी लोकप्रियता को उच्च जातियों में भी बढ़ा दिया। जिन्होंने अपनी आरम्भिक हिचकिचाहट के बाद मिशन स्कूलों से शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ कर दिया।[6] अत: इस बीच उभरने वाले स्थानीय अफसर, राजनीतिज्ञ, कवि, पत्रकार, साहित्यकार आदि की शिक्षा मिशन स्कूलों से होना इस बात की ओर इशारा करता है कि मिशनरियां शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक व लोकप्रिय होती जा रही हैं।[7]

अब धीरे-धीरे पाश्चात्यकरण, बाह्मणवादी, कर्मकाण्डों तथा जातिगत भेदभाव से ऊबकर मिशनरियों द्वारा सरल, समतायुक्त, सामाजिक सेवा के रुप मे ईसाई धर्म से प्रभावित होकर 19 वीं सदी के अन्त तक उच्च वर्ण के पाण्डे, पन्त, जोशी, सनवाल व रावत भी ईसाई बनने लगे।[8] मगर मिशनरियों का सबसे अधिक प्रभाव निम्न जातियों पर पड़ा, उसका कारण व्यापक गरीबी, अशिक्षा तथा निम्न वर्ग के प्रति उच्च वर्ग द्वारा भेदभाव व शोषण की नीति।

उक्त बातों ने एक प्रकार से मिशनरियों के लिए उर्वर वातावरण तैयार कर दिया था और 19वीं सदी के अन्त तक मिशनरियों को निम्न जातियों के धर्मांतरण में बहुत सफलता मिली। 1881 में यहाँ के तत्कालीन चार जिलों अल्मोड़ा, नैनीताल, गढ़वाल और कुमाऊँ में ईसाई धर्म को मानने वालों की संख्या 4671 थी और 1881 व 1911 में उक्त चार जिलों की कुल जनसंख्या क्रमश: 1190130 व 153865 थी।[9] जबकि चौका देने वाली बात यह थी कि केवल अल्मोड़ा जिले में यह संख्या- 2393 थी[10] और यह बढ़कर 1911 में 2581 हो गई।[11] इन चार जिलों में 1881 से 1911 तक कुल जनसंख्या क्रमश: 1190130 व 1533865 थी, तथा टिहरी रियासत की 199836 और 300819 थी।[12] बद्रीदत्त पाण्डे लिखते हैं कि धर्म परिवर्तन का यह सिलसिला पिथौरागढ़ में 1884-85 के आस-पास से प्रारम्भ हुआ। उसके बाद चौंदास, जोहार तथा धारचूला में तीव्र गति से आगे को फैलता चला गया।[13] इसके साथ ही डंगोली, द्वाराहाट व बेरीनाग में चर्च की स्थापना हुई।[14] मिशनरियां लोगों को बराबर अपनी ओर आकर्षित कर रही थी, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण अस्कोट के पुष्कर रजवार ने अपनी बिमारी के उपचार करने के प्रतिफल के रुप में मि० मार्या को चर्च हेतु जमीन दी।[15]

अन्तत: यह सत्य है कि ईसाई मिशनरियों ने समाज में अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिए समाज सेवा का कार्यक्रम चलाया। जिसमें स्त्री शिक्षा के विस्तार पर विशेष बल दिया और उनके द्वारा नैनीताल में तीन कन्या पाठशालाएं खोली, जिनमें दो अमेरिकन मिशन के प्रबन्ध में थी और एक सरकारी स्टेट के खर्चे से चलती थी।[16] इसके अलावा मिशनरियों द्वारा महिलाओं के लिए अस्पताल, अनाथाश्रम, आवासगृह तथा डिस्पेंसरी की स्थापना का प्रयास किया जा रहा था।[17] अत: स्वाभाविक ही स्त्रियों के लिए शिक्षण संस्थाओं का खोला जाना और उनका विस्तार उनकी संगठनात्मक गतिविधियों का महत्वपूर्ण अंग बना, यद्यपि मिशनरियों का वास्तविक उद्देश्य मानवतावादी गतिविधियों के रुप में शिक्षणात्मक गतिविधियों के विस्तार के माध्यम से अधिकाधिक स्थानीय जनता को ईसाई धर्म की ओर आकर्षित कर उनका धर्मांतरण करना था।

स्त्री शिक्षा के प्रसार हेतु उनके प्रयासों व रुचि ने समाज में स्त्री शिक्षा के प्रति स्थायी निषेध ात्मक नकारात्मक दृष्टिकोण को परिवर्तित करने में मदद की। जहाँ तक शिक्षा के क्षेत्र में उनका अधि क ध्यान देना था। वह आकस्मिक नहीं वरन् सोची समझी रणनीति का ही एक अंग था। केवल ध र्मांतरण करना किंतु लोगों को शिक्षित न करना मिशनरियों की दृष्टि में परस्पर विरोधी सत्य थे। उनका यह स्पष्ट दृष्टिकोण था कि केवल धर्मांतरण करना न केवल व्यर्थ बल्कि खतरनाक भी है।

अत: मिशनरी कार्यों की सफलता के लिए लोगों को शिक्षित किया जाना जरुरी है।[18] उक्त बातों को देखते हुए मिशनरियों का प्रमुख उद्देश्य ईसाई धर्म की शिक्षाओं के प्रचार के लिए शिक्षा और शिक्षण संस्थाओं को बढ़ावा देना अति आवश्यक था क्योंकि गैर ईसाईयों के जीवन को ईसाईयत के सिद्धान्तों के माध्यम से प्रभावित किया जा सके।[19] मिशनरी ने केवल यूरोप में विकसित शिक्षण की सार्वजनिक संस्थाओं से पूर्णतया परिचित थे बल्कि उसके लाभदायक परिणामों को भी अनुभूत करते थे। उनका यह निश्चित विश्वास था कि ब्रिटिश शासन के नैतिक आधार के विस्तार, सुदृढ़ीकरण व जनता में उसकी लोकप्रियता के लिए जितनी जरुरी थी पुरुषों की शिक्षण व्यवस्था उससे कम जरुरी नहीं था। स्त्री शिक्षा का प्रसार, स्त्रियों का परिवार में केन्द्रीय महत्वपूर्ण भूमिका के चलते मिशनरियों द्वारा धर्मांतरण को स्थायी और सफल बनाने के लिए स्त्रियों को शिक्षित करने पर बल देना तथा उन्हें प्रभावित करना नितान्त स्वाभाविक ही था।

मिशनरियों में स्त्री शिक्षा हेतु अपने प्रयासों को संगठित रुप दिया "जनाना व्यवस्था" व सार्वजनिक विद्यालयों की स्थापना के माध्यम से, स्त्री-पुरुष के सह-शिक्षण की व्यवस्था के प्रति समाज के नकारात्मक दृष्टिकोण ने मिशनरियों को स्त्रियों हेतु पृथक स्कूल विद्यालयों को स्थापना हेतु प्रेरित किया।[20] ब्रिटिश प्रशासकों का समर्थन मिशनरियों को न केवल प्राप्त ही था। अपितु उन्हें विदेशों से प्राप्त हो रही आर्थिक सहायता भी इस कार्य हेतु आर्थिक मजबूती प्रदान करती थी। मिशनरी संगठनों ने महिला प्रचारकों (मिशनरी) के माध्यम से ताकि उन्हें भारतीय स्त्रियों का विश्वास हासिल करने में सुविधा हो। स्त्री शिक्षा हेतु "जनाना व्यवस्था" के माध्यम से 'परिवार' में हस्तक्षेप का अधिकार प्राप्त कर लिया था।

राष्ट्रीय स्तर पर 1840 में महिला मिशनरियों का आगमन हुआ, जिन्हें महिलाओं और मध्य कार्य करने का दायित्व सौंपा गया था। उन्होंने स्वयं को वयस्क विवाहिता महिलाओं को ईसाई धर्म में धर्मांतरित करने के उद्देश्य के प्रति समर्पित कर दिया। इन महिला ईसाई प्रचारकों को शिक्षक के रुप में घरों में प्रवेश की सुविधा हासिल हो जाती थी। जहाँ वे महिलाओं को कहानियों के माध्यम से शिक्षा देती थी, इसके अलावा उन्हें कढ़ाई-बुनाई-सिलाई का शिक्षण प्रशिक्षण देती थी और घर के सदस्यों को ईसाई धर्म की ओर आकर्षित करने का भी भरपूर प्रयास करती थी। उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता बहुत ही कम मिलती थी। लेकिन उन्होंने अपना उत्साह न छोड़ा बल्कि अपनी भारतीय शिष्याओं और ईसाई परिवार की भारतीय महिलाओं को कन्याओं के विद्यालय में अध्यापिका के रुप में नियुक्ति दे दी गई।[21] इन मिशनरियों ने लड़कियों की शिक्षा हेतु अलग विद्यालयों की स्थापना की, जिससे प्राइमरी तथा मिडिल स्तर की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। अत: यहाँ पर मिशनरियों ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त की, माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक कार्य मिशनरी विद्यालयों द्वारा किया गया जो इस प्रकार है- सर्वप्रथम 1845 में "जीसस एण्ड मैरी कान्वेंट स्कूल" की स्थापना हुई,[22] साथ ही 1854 में लंदन सोसाइटी द्वारा मसूरी में "वुडस्टाक हाई-स्कूल" की स्थापना की गयी।[23] 1859 में "यू०जी०एन०आई० गर्ल्स इण्टरमीडिएट कॉलेज" की स्थापना देहरादून में प्राइमरी स्कूल के रुप में हुई। तत्पश्चात् 1870 में इसे मिडिल स्कूल तथा 1890 में हाईस्कूल की मान्यता मिली। 1858 में इण्टरमीडिएट स्कूल बना दिया गया। 1864 मे मिशनरी आर्क देक प्रेट द्वारा कन्याओं की शिक्षा हेतु मसूरी में "कैनेविले हाउस स्कूल" खोला गया।[24] 1867 में ब्राडबुरी द्वारा नैनीताल में "डायोसिसन स्कूल" की स्थापना की गयी जो कि प्रारम्भ में कन्या और बालकों का साथ-साथ स्कूल था। 1874 में पृथक विद्यालय के रुप में लड़कियों के लिए "आलसेंट डायोसिसन गर्ल्स कॉलेज" की स्थापना स्टोनले कम्पाउण्ड में की गयी, जिससे कन्याओं की संख्या 1874 तक 85 हो गयी थी।[25]

1878 में मदर सैलेसिया द्वारा नैनीताल में "सेंट मेरी कान्वेंट स्कूल" की स्थापना हुई, जिसमें उस वक्त 40 छात्राऐं पढ़ाई कर रही थीं और 1928 तक इनकी संख्या बढ़कर 200 हो गई।[26] शिक्षा को मजबूती देने के लिए कमिश्नर रैम्जे के प्रयासों से श्रीमती ब्राडबुरी के निर्देशन में मैथोडिस्क मिशन सोसाइटी द्वारा 1869 में कुमाऊँ में छात्र-छात्राओं के लिए एह सह-शिक्षण विद्यालय की स्थापना की। 1870 में अमेरिकन मिशन द्वारा एक अतिरिक्त छात्राओं का विद्यालय खोला गया, जिसमें छात्राओं की संख्या लगभग 20 थी।[27] 1869-70 में मिशनरी श्रीमती मानसेल ने चौपड़ा में एक बालिका विद्यालय की स्थापना की, जिसमें मुख्य रुप से अनाथ बालिकाओं को लिया गया।

कुछ समय पश्चात् अन्य बालिकाओं के लिए "बालिका छात्रावास" की स्थापना की गई।[28] 1873 में डब्ल्यू०एन० ट्राइब के डिजायन पर अल्मोड़ा में एक कन्या स्कूल खोला गया।[29] इसी वर्ष 1873 में लाडूर क्षेत्र (देहरादून) में यूरेशियन लड़कियों के लिए "वुडस्टाक कॉलेज" की स्थापना हाईस्कूल के रुप में की गयी, जिसे कालान्तर में कॉलेज के रुप परिवर्तित कर दिया।[30] इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से सम्बद्ध कर दिया, 1884 में अमेरिकन मैथोडिस्ट मिशन ने मिस इ०के० नोअलस के निर्देशन में मिशनरी और यूरोपीय परिवारों के बच्चों के लिए नैनीताल में "वेलेजली गर्ल्स हाईस्कूल" की स्थापना की[31] और अंग्रेज कमिश्नर हेनरी रैम्जे के प्रश्रय में ईसाई बडन ने सर्वप्रथम अल्मोड़ा में एक कन्या पाठशाला का शुभारम्भ किया।[32] ''

ओकग्रोप स्कूल'' 1896 में झाड़ी पानी में लड़कियों के शिक्षा हेतु स्थापित किया गया था, यह स्कूल वस्तुतः ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी ने 1888 में यूरोपीय कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के उद्देश्य से स्थापित किये गये स्कूल का विस्तार था, जिसमें छात्रों की संख्या बढ़ने के कारण कन्याओं के लिए अलग से स्कूल खोलने की प्रेरणा प्राप्त हुई और 1950 में इस स्कूल में 150 कन्याऐं पढ़ने लगी।[33] इसी वर्ष 1896 के आसपास गडोली में अमेरिकन मेथोडिस्ट मिशन ने लड़कों व लड़कियों के लिए एक साथ स्कूल की व्यवस्था की, जब 1899 में इनसाइन गिल इस स्कूल का प्रबन्धक बनने के बाद से इसमें ईसाई लड़कियां ही प्रवेश पाने लगी, साथ ही लड़कियों के लिए छात्रावास की व्यवस्था भी की गयी। मिस गिल के प्रयासों से 1903 में इस स्कूल को मिडिल स्कूल में परिवर्तित कर दिया गया परिणाम स्वरुप स्कूल का नाम "मेरी इनसाइन गिन गर्ल्स स्कूल" रखा गया। इस कन्या स्कूल से 1905 में प्रथम बार लड़कियों ने मिडिल परीक्षा दी और लड़कियों को अध्यापिकाओं या दाईयों के रुप में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाने लगा।[34]

चूँकि दलित व निर्धन वर्ग हेतु शिक्षा सुविधाओं का विशेष अभाव था। अतः उनके लिए विद्यालयों की स्थापना के अतिरिक्त मिशनरियों द्वारा स्त्री शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित करने का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण उत्तराखण्ड में हिल स्टेशनों, सैन्य छावनियों व ब्रिटिश प्रशासनिक व आर्थिक गतिविधियों के विस्तार के फलस्वरुप बढ़ी संख्या में यूरोपीय तथा यूरेशियन जनसंख्या की उपस्थिति भी थी जिसकी उचित व कुशल शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता ने न केवल मिशनरी शिक्षण गतिविधियों को प्रोत्साहित किया बल्कि उसे लोकप्रिय विस्तार भी दिया, 1904 में यूरोपियन तथा यूरोशियन जनसंख्या के लिए नैनीताल व मसूरी जिलों में 21 मिशनरी शिक्षण संस्थाऐं कार्यरत थी। जिनमें लगभग 2100 छात्र अध्ययनरत थे।[35]

सेंशस ऑफ इण्डिया 1931, पार्ट-1 रिपोर्ट ऐसे शहरी क्षेत्रों में जो सैन्य छावनियों व हिल स्टेशनों के रुप में विकास की ओर बढ़ा, में यूरोपीय व यूरेशियन जनसंख्या बड़ा हुआ प्रतिशत स्पष्ट करता है।[36]

	कुल जनसंख्या				यूरोपियन व एग्लो-इंडियन जनसंख्या				
	कुल (1)	*पुरुष (2)*	*स्त्री (3)*	*स्त्रियों का प्रतिशत (4)*	*कुल (5)*	*पुरुष (6)*	*स्त्री (7)*	*स्त्रियों का प्रतिशत (8)*	*स्त्रियों का प्रतिशत कुल महिला जनसंख्या के सन्दर्भ में (9)*
नैनीताल नगरपालिका	17375	12167	5208	30:	1996	1047	949	48:	18:
मंसूरी नगरपालिका	17115	12362	4753	28:	3484	1706	1778	51:	37:
रानीखेत सैन्य छावनी क्षेत्र	9489	7246	2243	24:	3182	2578	604	19:	27:
चकराता सैन्य छावनी क्षेत्र	5935	4918	1017	17:	2101	1871	230	11:	23:
लंडूर सैन्य छावनी क्षेत्र	2878	2071	807	28:	310	142	168	54:	21:

इन मिशनरियों के प्रभाव से ही उत्तराखण्ड में 1920 के आस-पास महिलाओं की शिक्षा घर-घर में चर्चा का विषय बन गया। वस्तुत: उत्तराखण्ड में यह वह समय था जब राष्ट्रीय आन्दोलन की हलचलें होने लगी थी, यह भी उत्तराखण्ड के लिए सौभाग्य की बात थी कि यहाँ पर सामाजिक सुधारों और राजनैतिक चेतना के कारण महिला शिक्षा को सामाजिक समर्थन मिलना भी प्रारम्भ हो गया था और लोग समझने लगे थे कि शिक्षा वह वस्तु है जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है, यह तो सभी कहते है कि शिक्षित आदमी की तीन आँखें होती है यह तीसरी आँख बुद्धि है जो शिक्षा से खुलती है।[37] 1913 में कन्या मिशन, पौड़ी के बेहतरीन परीक्षा परिणामों की प्रशंसा करते हुए ''गढ़वाली'' पत्र ने लिखा कि इससे हमें यही ज्ञात होता है कि गढ़वाली लड़कों की अपेक्षा लड़कियां चतुर होती है और बुद्धिमान होती है परन्तु शोक इस बात का है कि हमारे यहाँ के लोगों का ध्यान अभी स्त्री शिक्षा की ओर प्राय: नहीं गया है।[38] उसी क्रम में गढ़वाली यह भी लिखता है कि जैसे मकान की बुनियाद उसके मजबूती के लिए है उसी प्रकार समाजोन्नति के लिए विद्या है। सुतरां मान्यवर समाज सुधारकों के लिए आवश्यक है कि पहले अपने समाज में विद्या के बीज बोये,[39] धीरे-धीरे अब मिशनरियों द्वारा महिलाओं के शिक्षा सम्बन्धी कार्यो पर कुमाऊँनी जनता का ध्यान जाने लगा उन्हें महसूस भी होने लगा कि महिलाओं की शिक्षा न केवल सामाजिक संगठन की प्रमुख इकाई के रुप में "परिवार" को और मजबूत करेगी बल्कि भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक परम्परा को भी सशक्त करेगी।

स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में मिशनरियों के प्रयासों की व्यापकता व महत्ता का स्पष्टीकरण इस तथ्य से आसानी से होता है कि उत्तराखण्ड आजादी के पहले विशेषत: 1911 तक स्त्री शिक्षा के प्रसार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान मिशनरियों का था। देहरादून जिले में शिक्षा के विस्तार में मिशनरी प्रयासों की महत्ता पर टिप्पणी करते हुए जी०आर०सी० विलियम लिखते है कि देहरा मिशन के प्रभाव क्षेत्र के बाहर मेजर यंग के समय से शिक्षा की सामान्य प्रगति अत्यन्त क्षीण रही। जिन्होंने कि अपने निजी व्यय पर गोरखा लाइन में एक स्कूल खोला था, ने अनुभव किया कि वे सैनिकों के बच्चों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी विद्यालय में प्रवेश करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकें।[40] उन्होंने आगे लिखा है कि 1874 में देहरादून क्षेत्र के उन निवासियों को छोड़कर जो कि इस क्षेत्र में, कार्यरत मिशनरियों के प्रभाव में थे।

अन्य निवासियों की शिक्षा का स्तर अत्यन्त पिछड़ा हुआ था[41] बद्रीदत्त पाण्डे लिखते हैं कि भावर के स्कूलों का प्रबन्ध मिशनरियों के हाथ में था।[42] तथापि मिशनरियों के स्त्री शिक्षा सम्बन्धित प्रयासों की लोकप्रियता विशेषत: यूरोपियन समुदाय और धर्मांतरित ईसाईयों के मध्य तक सीमित रही। नवीन

धर्मान्तरित (ईसाई धर्म में) लोगों की लड़कियों को सम्भवत: उनके भाईयों की तुलना में स्कूल में ज्यादा भेजा जाता था, क्योंकि उन्हें परिवार की आजीविका चलाने वाले सदस्य के रुप में ज्यादा देखा जाता था[43] निम्न जातियों के विपरीत उच्च जातियों के सम्पन्न आभिजात्य वर्ग में मिशनरी स्कूलों को संदिग्ध रुप में देखा जाता था, वे मानते थे कि इनमें उनकी लड़कियों का प्रवेश उन्हें धार्मिक, नैतिक तथा चारित्रिक रुप से भ्रष्ट कर देगा।

अत: मिशनरियों के स्त्री शिक्षा के शिक्षण संस्थाओं व प्रयासों के प्रति वे अधिकांशत: अनिच्छुक व तटस्थ बने रहे। स्त्रियों की शिक्षा हेतु मिशन स्कूलों का विस्तार तथा लोकप्रियता अधिकांशत: शहरी केन्द्रों जहाँ कि यूरोपियन तथा यूरेशियन जनसंख्या अधिकांश केन्द्रित थी, तक ही सीमित रही तथापि मिशनरियों ने स्थानीय समाज में स्त्री शिक्षा को एक लाकेप्रियता विचार के रुप में प्रभावशाली तरीके से विकसित होने में सर्वाधिक मदद की।[44] उक्त तमाम बातों को देखते हुए स्पष्ट हो जाता है कि मिशनरियों द्वारा स्त्रियों की शिक्षा के लिए किये गये संगठित प्रयासों तथा गतिविधियों ने समाज के विशेष सर्वण वर्ग के स्त्री शिक्षा के प्रति विशेधात्मक दृष्टिकोण में परिवर्तित को प्रेरित किया और यह भी सच है कि आजादी से पहले विशेषत: 1911 तक स्त्री शिक्षा के प्रसार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान मिशनरियों का था।

सन्दर्भ सूची

1. मुनौला, मनोहर सिंह: ब्रिटिश कुमाऊँ का सामाजिक इतिहास 1815-1947 शोध प्रबन्ध: कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल: नवम्बर 1989 : पृष्ठ- 293।
2. हैबर, डी० डी० रेनीगाल्ड: नैरेटिव ऑफ ए जर्नी थ्रेंद अपर प्रोविन्सेज ऑफ इण्डिया: लन्दन: 1828: पृष्ठ- 324-25।
3. कैनेडी जेम्स: लाइफ एण्ड वर्क्स इन बनारस एण्ड कुमाऊँ: लन्दन: 1884: पृष्ठ- 252।
4. कैनेडी जेम्स: उक्त।
5. भट्ट, जया: बीसवीं शताब्दी के दौरान ब्रिटिश शासन का उत्तराखण्ड के समाज पर प्रभाव (स्त्रियों के विशेष सन्दर्भ में एक सामाजिक अध्ययन) 2008: शोधा प्रबन्ध: कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल: पृष्ठ- 184।
6. उक्त: पृष्ठ- 184।
7. पाठक, शेखर: उत्तराखण्ड में सामाजिक आन्दोलनों की रुपरेखा: पहाड़ अंक-2: 1986, पृष्ठ- 98-99।
8. उक्त: पृष्ठ- 106।
9. डबराल, शिवप्रसाद: उत्तराखण्ड का इतिहास: भाग- 8: बीरगाथा प्रकाशन दो-गडडा गढ़वाल: 1965-78 : पृष्ठ- 150।
10. सैंसस आफ इण्डिया: 1881: पृष्ठ- 2-5।
11. सैंसस: 1911: पृष्ठ- 788-97।
12. सैंसस: 1911: पृष्ठ- 6-7।
13. पाण्डे, बद्रीदत्त: कुमाऊँ का इतिहास: प्रेम कुटीर अल्मोड़ा-1937: पृष्ठ- 454-455।
14. भट्ट, जया: पृष्ठ- 185।
15. स्वाधीन प्रजा (हिन्दी समाचार पत्र): 13 मई, 1931: पृष्ठ- 6।
16. पाण्डे, बद्रीदत्त: पृष्ठ- 90।
17. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ दि यूनाइटेड प्राविंस ऑफ आगरा एण्ड अवध, सैक्शन-11, वा० XXXV, अल्मोड़ा डिस्ट्रिक्ट: पृष्ठ- 22-23।
18. भट्ट, जया: पृष्ठ- 374।
19. विलियम, जी०आर०सी०: हिस्टारिकल एण्ड स्टेटिसरिकल मेयायर ऑफ देहरादून: रूड़की- 1874: पृष्ठ- 34।
20. भट्ट, जया: पृष्ठ- 375।

21. उक्त: पृष्ठ- 375।
22. वाल्टन, एच०जी०: डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ दि यूनाइटेड प्राविंस, देहरादून: वाल्यूम-1: पृष्ठ- 159।
23. उक्त।
24. पाण्डे, बद्रीदत्त: पृष्ठ- 39।
25. उत्तर-प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, देहरादून- 1978: पृष्ठ- 201।
26. उक्त।
27. क्ले, जे०एन०: नैनीताल : ए हिस्टारिकल एण्ड डिसक्रिप्टिव आकाउण्ट: पृष्ठ- 49-50।
28. वाल्टन, एच०सी०: अल्मोड़ा गजेटियर- इलाहाबाद, 1928: पृष्ठ- 49-50।
29. डबराल, ज़िवप्रसाद: उत्तराखण्ड का इतिहास: भाग- 8 : पृष्ठ- 151।
30. वाल्टन, एच०जी०: पृष्ठ- 156।
31. उक्त: पृष्ठ- 156।
32. पाण्डे, बद्रीदत्त: पृष्ठ- 39।
33. शर्मा, डी०डी०: उत्तराखण्ड का सामाजिक एवं राजनैतिक इतिहास: 2001, वाल्यूम-1, अल्मोड़ा: पृष्ठ- 210।
34. वाल्टन, एच०जी०: पृष्ठ- 157-58।
35. भट्ट, जया: पृष्ठ- 376।
36. सैंसस ऑफ इण्डिया: 1931: रिपोर्ट: पृष्ठ- 146-47।
37. गढ़वाली: हिन्दी समाचार पत्र: अगस्त 1907 भाग-3: पृष्ठ- 5।
38. गढ़वाली: जून 1913 भाग-3: पृष्ठ- 83।
39. गढ़वाली: अप्रैल 1908 भाग-3, अंक 12: पृष्ठ- 26।
40. भट्ट, जया: पृष्ठ- 318।
41. उत्तर-प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, देहरादून-1979: पृष्ठ- 271।
42. पाण्डे, बद्रीदत्त: पृष्ठ- 487।
43. भट्ट, जया: पृष्ठ- 381।
44. उक्त।

भारत में शिक्षा: एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

डॉ० दिवाकर त्रिपाठी

प्रवक्ता इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
डॉ० राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद

सारांश

बिहार का प्राचीन नाम 'विहार' था, जिसका मतलब मठ होता है। यह भारत के पूर्वी भाग में स्थित है। यह राज्य भाषाई तौर पर प्रभावकारी है क्योंकि यहां कई भाषाएं बोली जाती हैं, जैसे भोजपुरी, मैथिली, मगही, बज्जिका और अंगिका। बिहार की राजधानी पटना है, जिसका नाम पहले पाटलीपुत्र था। भारत के कुछ महान राजाओं जैसे समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त मौर्य, विक्रमादित्य और अशोक के शासन में बिहार शक्ति, संस्कृति और शिक्षा का केन्द्र बन गया। यहां उस समय के दो महान शिक्षा केन्द्र भी थे, विक्रमशिला और नालंदा विश्वविद्यालय।

प्राचीन बिहार (जिसका एक नाम मगध भी था) ने 1,000 सालों तक सत्ता, शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में निर्णायक भूमिका निभाई।

परिचय

विकास के लिए शिक्षित दिमाग की आवश्यकता होती है, इसलिए शिक्षा किसी भी देश या राज्य की वर्तमान परिदृश्य को दर्शाती है। बिहार इस क्षेत्र में आगे तो बढ़ रहा है लेकिन यह अभी भी बस एक शुरुआत से ज्यादा कुछ नहीं है। आधुनिक बिहार में शिक्षा के बुनियादी ढांचे की बहुत कमी है जो मांग और आपूर्ति के बीच बहुत अंतर पैदा करती है। बिहार में शिक्षक अनुपस्थिति दर 37.8 प्रतिशत है और इसका शिक्षक-छात्र अनुपात और छात्र-कक्षा अनुपात सबसे अधिक है। बिहार में लगभग 10 प्रतिशत प्राथमिक स्कूलों में पीने हेतु साफ पानी भी नहीं है।

बिहार की 'आउट आफ स्कूल' दर भी बहुत प्रभावशाली नहीं है। हालांकि धीरे-धीरे ही सही लेकिन स्थिति बेहतर हो रही है।

प्राचीन काल

भारत की प्राचीन शिक्षा आध्यात्मिमकता पर आधारित थी। शिक्षा, मुक्ति एवं आत्मबोध के साध न के रूप में थी। यह व्यक्ति के लिये नहीं बल्कि धर्म के लिये थी। भारत की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक परम्परा विश्व इतिहास में प्राचीनतम है।[1]

विद्यालय 'गुरुकुल', 'आचार्यकुल', 'गुरुगृह' इत्यादि नामों से विदित थे। आचार्य के कुल में निवास करता हुआ, गुरुसेवा और ब्रह्मचर्य व्रतधारी विद्यार्थी षडंग वेद का अध्ययन करता था। शिक्षक को 'आचार्य' और 'गुरु' कहा जाता था और विद्यार्थी को ब्रह्मचारी, व्रतधारी, अंतेवासी, आचार्यकुलवासी। मंत्रों के द्रष्टा अर्थात् साक्षात्कार करनेवाले ऋषि अपनी अनुभूति और उसकी व्याख्या और प्रयोग को ब्रह्मचारी, अंतेवासी को देते थे।[2]

यज्ञों का अनुष्ठान विधि से हो, इसलिए होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा को आवश्यक शिक्षा दी जाती थी। वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद, ज्योतिष और निरुक्त उनके पाठ्य होते थे। पाँच वर्ष के बालक की प्राथमिक शिक्षा आरंभ कर दी जाती थी। गुरुगृह में रहकर गुरुकुल की शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता उपनयन संस्कार से प्राप्त होती थी।

ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्यार्थी गुरुगृह में 12 वर्ष वेदाध्ययन करते थे। तब वे स्नातक कहलाते थे। समावर्तन के अवसर पर गुरुदक्षिणा देन की प्रथा थी। समावर्तन के पश्चात्य भी स्नातक स्वाध्याय करते रहते थे।

अध्यापक, छात्रों का चरित्रनिर्माण, उनके लिए भोजनवस्त्र का प्रबंध, रुग्ण छात्रों की चिकित्सा, शुश्रूषा करते थे।

विद्यार्थी गुरु का सम्मान और उनकी आज्ञा का पालन करते थे। आचार्य का चरणस्पर्श कर दिनचर्या के लिए प्रात:काल ही प्रस्तुत हो जाते थे। गुरु के आसन के नीचे आसन ग्रहण करा, सुसंयत वेश में रहना, गुरु के लिए दातौन इत्यादि की व्यवस्था करना, उनके आसन को उठाना और बिछाना, स्नान के लिए जल ला देना, समय पर वस्त्र और भोजन के पात्र को साफ करना, ईधंन संग्रह करना, पशुओं को चराना इत्यादि छात्रों के कर्तव्य माने जाते थे।

काशी, तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, वलभी, ओदंतपुरी, जगद्दल, नदिया, मिथिला, प्रयाग, अयोध्या आदि शिक्षा के केंद्र थे।[4]

मध्यकाल

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना होते ही इस्लामी शिक्षा का प्रसार होने लगा। फारसी जाननेवाले ही सरकारी कार्य के योग्य समझे जाने लगे। हिंदू अरबी और फारसी पढ़ने लगे। बादशाहों और अन्य शासकों की व्यक्तिगत रुचि के अनुसार इस्लामी आधार पर शिक्षा दी जाने लगी। इस्लाम के संरक्षण और प्रचार के लिए मस्जिदें बनती गई, साथ ही मकतबों, मदरसों और पुस्तकालयों की स्थापना होने लगी। मकतब प्रारंभिक शिक्षा के केंद्र होते थे और मदरसे उच्च शिक्षा के। मकतबों की शिक्षा धार्मिक होती थी। विद्यार्थी कुरान के कुछ अंशों का कंठस्थ करते थे। वे पढ़ना, लिखना, गणित, अर्जीनवीसी और चिट्ठीपत्री भी सीखते थे। इनमें हिंदू बालक भी पढ़ते थे।

मकतबों में शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी मदरसों में प्रविष्ट होते थे। यहाँ प्रधानता धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। साथ साथ इतिहास, साहित्य, व्याकरण, तर्कशास्त्र, गणित, कानून इत्यादि की पढ़ाई होती थी। सरकार शिक्षकों को नियुक्त करती थी। कहीं कहीं प्रभावशाली व्यक्तियों के द्वारा भी उनकी नियुक्ति होती थी। अध्यापन फारसी के माध्यम से होता था। अरबी मुसलमानों के लिए अनिवार्य पाठ्य विषय था। छात्रावास का प्रबंध किसी किसी मदरसे में होता था। दरिद्र विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति मिलती थी। अनाथालयों का संचालन होता था। शिक्षा नि:शुल्क थी। हस्तलिखित पुस्तकें पढ़ी और पढ़ाई जाती थीं।[4]

राजकुमारों के लिए महलों के भीतर शिक्षा का प्रबंध था। राज्यव्यवस्था, सैनिक संगठन, युद्धसंचालन, साहित्य, इतिहास, व्याकरण, कानून आदि का ज्ञान गृहशिक्षक से प्राप्त होता था।

सादगी, सदाचार, विद्याप्रेम और धर्माचरण पर जोर दिया जाता था। कंठस्थ करने की परंपरा थी। प्रश्नोत्तर, व्याख्या और उदाहरणों द्वारा पाठ पढ़ाए जाते थे। कोई परीक्षा नहीं थी।

आधुनिक काल

भारत में आधुनिक शिक्षा की नींव यूरोपीय ईसाई धर्मप्रचारक तथा व्यापारियों के हाथों से डाली गई। उन्होंने कई विद्यालय स्थापित किए। प्रारंभ में मद्रास ही उनका कार्यक्षेत्र रहा। धीरे धीरे कार्यक्षेत्र का विस्तार बंगाल में भी होने लगा। इन विद्यालयों में ईसाई धर्म की शिक्षा के साथ साथ इतिहास, भूगोल, व्याकरण, गणित, साहित्य आदि विषय भी पढ़ाए जाते थे। रविवार को विद्यालय बंद रहता था। अनेक शिक्षक छात्रों की पढ़ाई अनेक श्रेणियों में कराते थे। अध्यापन का समय नियत था। साल भर में छोटी बड़ी अनेक छुट्टियाँ हुआ करती थीं।

प्राय: 150 वर्षों के बीतते बीतते व्यापारी ईस्ट इंडिया कंपनी राज्य करने लगी। विस्तार में बाधा पड़ने के डर से कंपनी शिक्षा के विषय में उदासीन रही। फिर भी विशेष कारण और उद्देश्य से 1781 में कलकत्ते में 'कलकत्ता मदरसा' कंपनी द्वारा और 1792 में बनारस में 'संस्कृत कालेज' जोनाथन डंकन द्वारा स्थापित किए गए।[5]

1835 ई. में लार्ड बेंटिक ने निश्चय किया कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य और यूरोपीय इतिहास, विज्ञान, इत्यादि की पढ़ाई हो और इसी में 1813 के आज्ञापत्र में अनुमोदित धन का व्यय हो। प्राच्य शिक्षा चलती चले, परंतु अंग्रेजी और पश्चिमी विषयों के अध्ययन और अध्यापन पर जोर दिया जाए।

पाश्चात्य रीति से शिक्षित भारतीयों की आर्थिक स्थिति सुधरते देख जनता इधर झुकने लगी। अंग्रेजी विद्यालयों में अधिक संख्या में विद्यार्थी प्रविष्ट होने लगे क्योंकि अंग्रेजी पढ़े भारतीयों को सरकारी पदों पर नियुक्त करने की नीति की सरकारी घोषणा हो गई थी। सरकारी प्रोत्साहन के साथ साथ अंग्रेजी शिक्षा को पर्याप्त मात्रा में व्यक्तिगत सहयोग भी मिलता गया। अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार के साथ साथ अधिक कर्मचारियों की और चिकित्सकों, इंजिनियरों और कानून जाननेवालों की आवश्यकता पड़ने लगी। उपयोगी शिक्षा की ओर सरकार की दृष्टि गई।[6]

ब्रिटिश शासनकाल में बिहार में पाश्चात्य शिक्षा का विकास

आधुनिक भारत के शिक्षा के क्षेत्र में 1835 एक महत्वपूर्ण वर्ष था। लॉर्ड विलियम बेंटिक ने घोषणा की कि शिक्षा के लिए जो कुछ भी कोश मंजूर हो उसे केवल अंग्रेजी शिक्षा के लिए ही खर्च करना सर्वोत्तम है। परिणामस्वरूप अंग्रेजी शिक्षा के लिए पूर्णिया, बिहारशरीफ, भागलपुर, पटना, आरा, छपरा आदि में जिला स्कूल स्थापित हुए. मुजफ्फरपुर जिला स्कूल 1845 में स्थापित हुआ। संथाल परगना के पाकुड़ का उच्च विद्यालय 1859 में स्थापित हुआ था।

1854 के चार्ल्स वुड डिस्पैच के अनुसार 1858 में कलकत्ता विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। वुड डिस्पैच में व्यावसायिक शिक्षा के महत्व और तकनीकी विद्यालयों की स्थापना की आवश्यकता पर बल दिया गया था। 1863 में पटना कॉलेज की स्थापना हुई। 1917 में पटना विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। पटना कॉलेज के कला विभाग के स्नातकोत्तर विभाग 1917 ई. में और भौतिकी तथा रसायन विज्ञान के विभाग 1919 ई. में खोले गए। विज्ञान संबंधित उच्च शिक्षा देने के लिए 1928 में एक स्वतंत्र विद्यालय की हैसियत से पटना साइंस कॉलेज स्थापित किया गया। 1925 में पटना मेडिकल कॉलेज की स्थापना की गई तथा 1947 में दरभंगा मेडिकल कॉलेज की स्थापना की गई।[7]

सैडलर आयोग ने व्यावहारिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी डिप्लोमा एवं डिग्री की उपाधि का प्रबंध करने की बात की तथा व्यावसायिक कॉलेज खोलने की बात कही। पूसा में 1902 में कृषि संबंधी शोध एवं प्रयोग का केंद्र स्थापित किया गया। पशुधन के विकास के लिए पटना में पशु चिकित्सा कॉलेज की स्थापना की गई। खनिज संसाधनों के उचित दोहन के लिए 1926 में इंडियन स्कूल ऑफ माइंस, धनबाद की स्थापना की गई।

शिक्षा के प्रचार प्रसार में स्वयंसेवी संस्थाओं तथा प्रमुख व्यक्तियों ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आर्य समाज, ब्रह्म समाज तथा ईसाई मिशनरियों का इस में महत्वपूर्ण योगदान रहा. आर्य समाज के द्वारा वैदिक शिक्षा के पुनरुत्थान के लिए डीएवी स्कूल की श्रृंखला स्थापित की गयी। ब्रह्म समाज के तत्वाधन में पटना में राम मोहन रॉय सेमिनरी की स्थापना की गई।[8]

मुसलमानों के बीच शिक्षा प्रसार के कई संगठन बने। इनकी प्रेरणा का स्रोत अलीगढ़ आंदोलन था जिसके नेता सर सैयद अहमद खान मुस्लिम समाज में जागृति का संचार कर रहे थे। मुजफ्फरपुर में 'बिहार साइंटिफिक सोसायटी' की स्थापना इमदाद अली खान के द्वारा की गई। पटना में मोहम्मडन एजुकेशन सोसाइटी का गठन हुआ।

महिला शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए कटक तथा बांकीपुर में कन्या विद्यालय (इंटरमीडिएट श्रेणी) खोले गए। और यह सिफारिश की गई कि प्रत्येक कमिश्नरी में कम से कम एक कन्या महाविद्यालय खोला जाए।

स्वतंत्रता के बाद

आजादी के बाद राधाकृष्ण आयोग (1948-49), माध्यमिक शिक्षा आयोग (मुदालियर आयोग) 1953, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (1953), कोठारी शिक्षा आयोग (1964), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968) एवं नवीन शिक्षा नीति (1986) आदि के द्वारा भारतीय शिक्षा व्यवस्था को समय-समय पर सही दिशा देनें की गंभीर कोशिश की गयी।[9]

1948-49 में विश्वविद्यालयों के सुधार के लिए भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति हुई।

1952-53 में माध्यमिक शिक्षा आयोग ने माध्यमिक शिक्षा की उन्नति के लिए अनेक सुझाव दिए। माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन से शिक्षा में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई।

निष्कर्ष

शिक्षा के क्षेत्र में बिहार की विरासत गौरवशाली रही हैं। प्राचीन काल से ही शिक्षा में बिहार को एक विशिष्ट पहचान मिली हुई थी। आधुनिक काल में पाश्चात्य शिक्षा का विकास निर्णायक तरीके से हुआ। इस काल में 19 वीं सदी के दूसरे दशक से बिहार में पाश्चात्य शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति हुई और शिक्षा के तमाम केंद्र खुलते चले गए। पाश्चात्य शिक्षा का उद्देश्य अंग्रेजी भाषा में ज्ञान विज्ञान एवं साहित्य की शिक्षा प्रदान करना था।

सन्दर्भ

1. भारतवर्षे वैदिककालीना शिक्षापद्धतिः, आचार्य लक्ष्मीचन्द्र, संजय प्रकाशन, दिल्ली, 1997
2. प्राचीन शिक्षा पद्धतिः, डॉ. सुरेन्द्र झा, आशुतोष प्रकाशन, लखनऊ, 2004

3. पुरातनी शिक्षा, प्रो. लोकमान्य मिश्र, मृगाक्षी प्रकाशन, लखनऊ, 2011
4. मनुस्मृति, श्रीमती उर्मिला रस्तोगी, परिमल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2005
5. याज्ञवल्क्यस्मृति, श्री उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत ऑफिस सिरीज, वाराणसी, 1967
6. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2000
7. भारतीय शिक्षा का इतिहास तथा समस्यायें, डॉ. सीताराम जयसवाल, प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ।
8. भारतीय संस्कृति, प्रो. वाई.एस. रमेश, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2007
9. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी. काणे, (प्रथम भाग), हिन्दी समिति, लखनऊ, 2000

रामायण कालीन समाजिक व्यवस्था

नवीन

शोधार्थी, इतिहास विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

भूमिका

भारतीय लोक जीवन में रामायण का अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान है। यह हमारा आदि-काव्य है जिसकी रचना महर्षि वाल्मीकि ने की थी। इसके रचना काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है लेकिन अधिकतर विद्वानों का मानना है कि इसकी रचना ई० पू० चौथी शताब्दी में हुई। रामायण कालीन भरतीय समाज में वर्ण व्यवस्था का वहीं स्वरूप था जो उत्तरवैदिक काल में था उसका कर्म भी उसी प्रकार का था। चातुर्वर्ग की उत्पति के विषय में ऋग्वेद की तरह रामायण में भी परमपुरूष से उसका होना उत्पन्न होना बताया गया है -

मुखतों ब्राह्मण जाता उरस क्षत्रियास्तया
उरूम्या जतिरे वैश्या पखयां शूद्रा..... ।[1]

ब्राह्मण: ब्राह्मण का मान और सम्मान समाज में उच्च था। उसे परमपुरूष के मुख से उत्पन्न मानकर उसकी श्रेष्ठता और विशिष्टता स्वीकार की गई। उसकी सर्वोच्चता और महानता भूमिचर देवता के रूप में थी। वह अपनी विद्वता और ज्ञान के लिए विख्यात था। अपने विभिन्न उच्चस्तरीय कार्यो के कारण वह समाज का महत्वपूर्ण अंग बन गया था तथा उसे अनेक विशेषाधिकार भी प्राप्त हो गए थे। किन्तु स्वयंघर्म का त्याग करने वाला ब्राह्मण अन्दनीय था। रामायण में एक जगह कहा भी गया है कि क्षतिर्य और वैश्य के कर्म अपनाने वाला ब्राह्मण कुत्ता और भेडिया माना जाता था अर्थात उसे निम्न वर्ग का समझा जाता था।

क्षतिर्य: वर्ण राजन्य और शासक वर्ग से संबघ था। प्रशासन और देश की सुरक्षा उनका प्रधान कर्म माना जाता था। रामायण में भी कहा गया है कि धर्मेण चतुरों वर्णान पलायने क्लेशमाप्नुहि रामायण में एक स्थान पर कहा गया है कि क्षतिर्य जन्म से नहीं वीरता से ही होता है।[2] उस समय के स्रोतों से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण और क्षतिर्य दोनों को पारस्परिक सहयोग और सदभावना से कार्य करने के लिए निर्दिष्ट किया जाता था। दोनों के आपसी प्रेम और मेल से कोइ भी बांधा या शतु ंप्रबल नहीं हो सकता थी। इसी संदर्भ में रामायण में कहा गया है कि ब्राह्मण और क्षेतिर्य का सहयोग शतु ंका उसी प्रकार विनाश करता है जिस प्रकार वायु और अग्नि का सहयोग वन का।

क्षतिर्य वर्ण को भी अध्ययन करने का अधिकार था। किन्तु यह विधान सर्वप्रचलित नहीं था। रामायण के अनेक स्थलों पर उसे अध्यापन और याजन से विलग किया गया है - क्षतिर्य याजको यस्य चाण्डालस्य विशेषता, कंथ सर्दास भोक्तारो हविस्तरयसुरर्षय।। किन्तु ऐसे भी क्षेतिर्यों का वर्णन हम देखते हैं जो वेदों, धनुर्वेदों, रणविधा और संगीत में भी पारंगत होते थे।[3]

वैश्य: इस वर्ण के लिए रामायण में कहा गया है कि वह समाज का ऐसा वर्ग था जिसने अध्ययन और यजन के कर्मो को छोडकर कृषि कर्म तथा गोपालन वृति का अनुसरण किया। इस वर्ग का प्रधान उद्देश्य था धनार्जन करना। समाज को आर्थिक दृष्टि से सबल और सुव्यवस्थित करने के लिए वैश्य वर्ण की आवश्यकता थी, जो अपने अथक परिश्रम और लगन से समाज के आर्थिक जीवन को सुदृढ करता था। प्राचीन काल में समाज का आर्थिक उत्कर्ष कृषि और व्यापार से ही हो सकता था जिससे

वैश्य वर्ग धन सम्पति से युक्त हो सकता था। इनके लिए कुछ ऐसी वस्तुएं भी निर्धारित की गई थी जिनका व्यापार करना उनके लिए वर्जित था। वह मद्य, मांस, लौह और चर्म का व्यापार नहीं कर सकता था। ऐसा लगता है कि इस वर्ग को विशिष्ट वस्तुओं का ही व्यापार करने का अधिकार था।[4]

शूद्रः वर्ग का तत्कालीन समाज में निम्न स्थान था। उसके लिए महाभारत में भी कहा गया है कि उनका प्रमुख धर्म अन्य वर्णा की सेवा करना है। जैसा पहले उल्लिखित किया जा चुका है कि शूद्र की उत्पति विराट पुरूष के पैर से हुई थी। उसे अध्ययन और याजन का अधिकार नहीं था। कोई भी शूद्र विद्याध्ययन के नियमित आचार्य के आश्रम में प्रविष्ट नहीं कर सकता था। अनाधिकारी तप करने वाला शूद्र उपेक्षणीय और निन्दनीय था।[5] रामायण में भी उल्लेख आया है कि एक शुद्र वर्णीय शम्बूक ने अनधिकारपूर्वक तप करने की चेष्टा की थी, जिस पर राम ने वर्ण धर्म की सुरक्षा के लिए उसका वध कर डाला था। लेकिन हम रामायण में यह भी उल्लेख देखते हैं कि शूर्द्र अपने सदाचार से वैश्य, क्षतिर्य अथवा ब्राह्मण हो सकता है –

यस्तु शूद्रों दमें सत्ये धर्मे सततोत्थितः त ब्राह्मण मन्यें वृत्तेन हि भवत् द्विज[6]।

सामान्यतः समाज में शूद्रों की स्थिति प्रायः दयनीय थी। किन्तु कुछ शूद्र अपने सत्कर्मो और सदाचरणों के कारण समाज में आदृत थे विदुर, कायव्य और मतंग इसके ऐसे उदाहरण है। जो अपने कर्मो के कारण समाज में प्रतिष्ठत थे तथा अपनी इच्छानुसार दूसरे कर्म भी अपना सकते थे।[7]

व्यावहारिक रूप से शूद्रों के प्रति उदारता का बर्ताव किया जाता था। उन्हें अनेक बधनों से मुक्त किया गया था तथा उनकें प्रति सहदयता प्रदर्शित की गई है।[8] महाभारत में कुछ ऐसा वर्णन आया है जहां युधिष्ठिर ने अपने राजसूय यज्ञ में शूद्र प्रतिनिधियों को भी निमन्तिर्त किया था जो तत्कालीन उदार भावना का प्रतीक था।[9]

आश्रम व्यवस्था

इस काल में आश्रम व्यवस्थ का स्वरूप स्पष्ट हो चुका था। ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा-दीक्षा, अनुशासन और ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवहारिक रूप में ब्रह्मचर्याश्रम का पालन मुख्यतः ब्राह्मणों और साधारणतया क्षत्रियों के द्वारा ही किया जाता था। अन्य वर्णो तथा नारी समुदाय में ब्रह्मचारियों के उदाहरण देखने को नहीं मिलते। गृहस्थाश्रम मुख्य रूप से विवाहित जीवन का काल था। कभी-कभी विवाह होने में कुछ देर हो जाती थी। अतः ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम के बीच की इस अवस्था को स्नातकावस्या कहते हैं। रामायण में विद्याध्ययन के पश्चात् राम को स्नातक कहा गया वानप्रस्थ आश्रम में साधारणतया मनुष्य अपने गृहस्थ जीवन के सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने के पश्चात् ही इस आश्रम को ग्रहण करता था। महाकाव्यों के उदाहरणों से प्रकट होता है कि वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करने वाले अधिकांशतः ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होते थे। जहाँ तक शूद्रों का सम्बन्ध है, उनके लिए एकमात्र गृहस्थाश्रम की ही योजना थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वानप्रस्थ आश्रम को स्त्रियाँ भी ग्रहण कर सकती थीं। महाभारत के अनुसार धृतराष्ट्र और पाण्डु के साथ उनकी पत्नियाँ भी वानप्रस्थ हुई थी। संन्यास प्रथम तीन आश्रमों के समस्त उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने के पश्चात् मनुष्य संन्यासाश्रम में सम्पूर्णतः संसार से विरक्त हो जाते थे। महाकाव्यों के साक्ष्य से यह भी ज्ञात होता है कि महिलाए भी संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो सकती थी।[10]

नारी

दोनों महाकाव्यों से प्रतीत होता है कि भारतीय समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र ही तार्ण करता था। इसी से उसका नाम पुत्र पडा। इसके विपरीत पुत्री तो साक्षात आपति थी। वह अपने माता-पिता और पति, तीनों के कुलो के लिए संकट थी, रामायणकार की दृष्टि से भी उसकी स्थिति निम्न थी।

सती और पर्दा प्रथा

रामायण कालीन भारतीय समाज में प्रचलित नहीं थी। रामायण में ब्राह्मणी वेदवती की माता प्रज्वलित अग्नि में प्रविष्ट हुई लेकिन इस से सती प्रथा की मान्यता सिद्ध नहीं होती। समाज में नारी पर्दा नहीं रखती थी। राम स्वयं कहते हैं कि स्ती के लिए गृह, वस्त्र, प्राकार और पार्थक्य निरर्थक है उसका चरित्र ही आवरण है।[11]

इस प्रकार महाकाव्य युगीन समाज वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। किन्तु इस युग में वर्ण कठोर होकर जातियों का रूप लेने लगे थे। रामायण में शक, यवन आदि विदेशी जातियों का उल्लेख मिलता है। इस काल में चारों आश्रमों में गृहस्थ आश्रम का सर्वाधिक महत्त्व था। महिलाओं की दशा इस काल में पहले की अपेक्षा हीन हो गई थी। फिर भी इनका समाज में महळव समझा गया।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 रामायण, 3.14. 29-30
2 वही, 7. 26. 33
3 वही
4 वही, 2. 106-121
5 महाभारत, 2. 33-41
6 रामायण, 7. 13
7 वही, 5. 6. 13-14
8 वही, 8. 9-11
9 महाभारत, 2. 33-41
10 महाभारत, 2. 82. 11
11 रामायण. 6.17. 32

ब्रिटिश भारत में मजदूर वर्ग का उत्थान एवं मजदूर आंदोलन (1850-1908)

डॉ० संजीव कुमार

इतिहास विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

भारतीय राष्ट्रीय परिदृश्य पर श्रमिक वर्ग का उभरना इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। जिसने आधुनिक भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक इतिहास को काफी प्रभावित किया। श्रमिक वर्ग ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा जन चेतना की एक मिसाल कायम की। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के समय जो श्रमिक वर्ग उमरा वह मुख्यत: औद्योगिक श्रमिक वर्ग था, जो अंग्रेज तथा भारतीय पूंजीपतियों द्वारा स्थापित उद्योगों में कार्यरत मजदूर थे। इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई थी, जबकि भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना 1850 के बाद प्रारंभ हुई थी। इस दौरान भारत इंगलैंड के उद्योगों के लिए कच्चें माल की पूर्त्ति करने वाला देश मात्र था। हम अच्छी तरह से जानते हैं कि जब कोई साम्राज्यवादी देश किसी उपनिवेश की स्थापना करता है तो उसका मुख्य उद्देश्य उपनिवेश का आर्थिक शोषण करना होता है। अंग्रेजों ने भी वही किया, उन्होंने भारतीय संसाधनों का दोहन इंगलैंड के औद्योगिक विकास के लिए किया। 1800 ई० तक भारतीय उद्योग-धंधे संसार में सबसे अधिक विकसित थे, क्योंकि उस समय उद्योग केवल कुटीर उद्योग ही थे। औद्योगिक क्रांति के ऩलस्वरूप बिदेशों में उद्योगों का विकास हुआ और उसी के साथ-साथ भारतीय उद्योगों का पतन प्रारंभ हुआ। 1800-50 ई० के काल को हम भारतीय औद्योगिकरण का काल कह सकते है। इस दौरान भारत के परम्परागत हस्त शिल्प का ऐसा ह्रास हुआ कि वह मर गया। कालें मार्क्स ने कहा था। ''यह अंग्रेज घुसपैठिया था जिसने भारतीय खड्डी और चरखे को तोड़ दिया।''[1]

अंग्रेजों के आगमन के पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था एक ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी। ग्राम आत्मनिर्भर होते थे तथा अपनी जरूरत की सारी वस्तुएँ स्वयं पैदा कर सकते थे। गाँवों में कृषि तथा उद्योग साथ-साथ चलता था तथा एक-दूसरे पर आश्रित थे। कुल मिलाकर ग्रामीण समाज आर्थिक दृष्टि से स्थिरता का प्रतीक था और यह आर्थिक स्थिरता कृषि, ग्रामोद्योग और स्थानीय व्यापार की संतुलित प्रणाली पर आधारित था। भारतीय गाँव की सबसे अच्छी परिभाषाओं में से एक एलफिंसटन ने अपनी पुस्तक ''History of India'' में दी हैं। उन्होंने भारतीय गाँवों को कहा है, छोटे-छोटे गणराज्य जो अपनी जरूरत की लगभग हर वस्तु स्वयं पैदा कर सकते है।[2]

लेकिन अंग्रेज साम्राज्यवादियों द्वारा औपनिवेशिक शासन की स्थापना ने भारतीय ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया। अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों ने गरीब किसानों को भूमिहीन बना दिया तथा कुटीर उद्योगों का नाश कर दिया, जिससे असंख्य लोग बेरोजगार हो गए। अब तक जो भारत एक प्रमुख निर्यात करने वाला देश था अब से आगे वह आयात करने वाला देश बन गया। भारतीय बाजार विदेशी कपड़ों और वस्तुओं से भर गया और भारतीय उद्योग तबाह हो गए। लार्ड विलियम बेंटिक की सरकार ने भी 1834 में यह कहा था, ''इस दुर्दशा का व्यापार के इतिहास में जोड़ नहीं। भारतीय बुनकरों की हड्डियाँ भारत के मैदान में बिखरी पड़ी है।''[3] 1850 के बाद जब भारत में

कारखानों की स्थापना होने लगी तब यही बेरोजगार लोग गाँव से शहरों की और पलायन कर गए। कारखानों में काम करने के लिए असंख्य लोग कम मजदूरी पर भी तैयार हो जाते थे। इस प्रकार भारत में सस्ता श्रम उपलब्ध था जिसने उद्योगों के विकास तथा उत्पादन के क्षेत्र में सहायता पहुँचाई।

इस प्रकार 1850 ई० के बाद भारत में एक नए वर्ग श्रमिक वर्ग का उदय हुआ। भारत में उद्योगों की स्थापना से मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई। आधुनिक उद्योगों की स्थापना ने पूंजीपतियों द्वारा शोषण और मजदूरों की समस्याओं को जन्म दिया। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् पश्चिमी देशों के मजदूरों को जिस समस्याओं का सामना करना पड़ा था, वैसी ही समस्याओं से भारतीय मजदूरों को गुजरना पड़ रहा था। भारतीय मजदूरों को कम मजदूरी, लंबे कार्य के घंटे, मिलों में अस्वस्थ्य वातावरण, बच्चों से काम लेना तथा महिलाओं को न्युन्तम मजदूरी नहीं देना, साथ ही समान्य सुविधाओं को उपलब्ध नहीं कराने की समस्याओं को झेलना पड़ता था। इसके अतिरिक्त भारतीय मजदूरों की स्थिति पश्चिमी देशों के मजदूरों से भिन्न थी। पश्चिमी देशों में मजदूरों का शोषण वहाँ के उद्योगपतियों द्वारा किया जाता था और सरकार ने उद्योगों के प्रति अहस्तक्षेप की नीति अपना ली थी, ताकि उद्योगों के विकास तथा उत्पादन में कोई बाधा उत्पन्न न हो। लेकिन भारत की परिस्थिति भिन्न थी। भारत की औपनिवेशिक सरकार की उद्योगों के विकास में कोई रूचि नहीं थी। उसकी नीति तो भारतीय उद्योग के विकास को अवरूद्ध करने की थी। वे नहीं चाहते थे कि भारतीय उद्योग इंगलैंड के उद्योगों के साथ प्रतिस्पर्धा करें। इसलिए वे भारतीय उद्योग या मजदूर वर्ग के हित के लिये कोई कार्य नहीं करना चाहते थे।

भारत में आधुनिक उद्योगों विशेषकर सूती कपड़ा मिल तथा जूट मिलों का बड़े पैमाने पर स्थापना हुई। जिससे उत्पादन बढ़ा और भारतीय बाजारों में देशी वस्तुओं की आपूर्ति बढ़ी। भारतीय उत्पाद आयातीत उत्पाद की तुलना में सस्तें होते थे, जिसका मुख्य कारण भारत में सस्ते श्रम की उपलब्धता थी। जबकि इंगलैण्ड में श्रमिक वर्ग ने अपने विभिन्न मांगों को लेकर आंदोलन चलाया और अंतत: 1847 में दस घंटा विधेयक पारित कर दिया गया। इस कानून ने स्त्रियों और युवकों के लिये काम के घंटं सीमित कर दिए और पुरुष श्रमिकों के लिए 10 घंटे का दिन निश्चित कर दिया।[4] इस कानून के प्रभाव से इंगलैंड का उत्पादन सीमित हो गया। दूसरी तरफ भारतीय उद्योगों से उन्हें कड़ी प्रतिस्पर्धा करनी पड़ रही थी। अब लंकाशायर के उद्योगपतियों ने भारत में कपास मिल के माल पर लगे आयात शुल्कों को समाप्त करने तथा भारतीय श्रमिकों की परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिए एक आयोग की मांग की। उन्हें डर था कि भारतीय कपड़ा उद्योग सस्ती मजदूरी के कारण उसका प्रतिद्वन्द्वी न बन जाए। इस प्रकार का पहला आयोग 1875 में नियुक्त किया गया।[5] इंगलैंड की सरकार ने 11 जुलाई 1877 को एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जो इस प्रकार था, ''इस सदन के मतानुसार भारत में आयात किए गए सूती माल पर लगा शुल्क जो निश्चित ही रक्षात्मक है स्वास्थ वाणिज्य नीतियों के विरूद्ध है और उसे जितना शीघ्र भारत की बित्तिय परिस्थिती अनुमती देकर समाप्त कर देना चाहिए।'' ब्रिटिश सदन द्वारा पारित प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए वायसराय लिटन ने अकाल पीड़ित भारत की आवश्यकताओं को नजरअंदाज करते हुए तथा अपने कार्यकारी परिषद के विरोध के बावजूद अपने सवैधानिक शक्तियों का प्रयोग करते हुए 1879 तक सभी शुल्कों को समाप्त कर दिया। इस प्रकार भारतीय प्रशासन की आवश्यकताओं को अंग्रेजी राजनीति पर बलिदान कर दिया।[6] भारतीय उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों की स्थिति में सुधार के लिए जो आयोग 1875 में नियुक्त किया गया था उसकी अनुशंसा पर भारत सरकार ने 1881 में प्रथम फैक्टरी कानून तथा 1891 में दूसरा फैक्टरी कानून पारित किया।[7] इस कानून के पारित होने से भारतीय श्रमिकों के मांगों को

कानूनी समर्थन प्राप्त हुआ तथा उनमें राजनीतिक जागृति आई। इस प्रकार भारत सरकार ने भारतीय श्रमिक वर्ग की परिस्थितियों को सुधारने के लिए कदम उठाए, भले ही उनका उद्देश्य इंगलैंड के व्यापार को लाभ पहुँचाना ही था।

1881 और 1891 के फैक्टरी एक्ट का ज्यादातर राष्ट्रवादी नेताओं और राष्ट्रीय अखबारों ने विरोध किया। उनका मानना था कि सरकार ने ब्रिटिश उत्पादकों के हितों की रक्षा को ध्यान में रखकर श्रम कानून बनाने की पहल की थी। इस कानून से श्रमिकों के कार्य के घंटे कम कर दिए जाते और इस तरह भारतीय उत्पादकों की बाजार में पहले से बढ़ी हुई प्रतिस्पर्धा की ताकत कम हो जाती। उस समय के राष्ट्रवादी नेता देश की गरीबी को कम करने के लिए औद्योगिक विकास को अनिवार्य मानते थे और इस प्रकार का कोई कदम नहीं उठाना चाहते थे जिससे औद्योगीकरण की प्रक्रिया में किसी तरह की कमी आए। लेकिन जब ब्रिटिश स्वामित्व वाली कम्पनियों में काम करने वाले मजदूरों का सवाल आया तो इन्हीं राष्ट्रवादियों ने उन मजदूरों को पूरा समर्थन दिया। राष्ट्रवादियों के रूख में इस बदलाव का कारण इसलिए था कि यहाँ मालिक और नौकर एक ही देश के अभिन्न अंग नहीं थे। सुमित सरकार ने भी राष्ट्रवादियों की आलोचना करते हुए लिखा है कि राष्ट्रवादी विदेशियों के लिये काम करने वाले भारतीयों (उदाहरण के लिए, असम के कुलियों) के लिए तो मानवतावादी सरोकार प्राय: ही दिखाते रहते थे किंतु भारतीय स्वामित्व वाले कारखानों के श्रमिकों की दशा की ओर से आँख मूंद लेते थे।[8]

यहाँ पर सवाल यह उठता है कि क्या भारतीय स्वामित्व वाले कारखानों में काम करने वाले मजदूरों और अंग्रेजी स्वामित्व वाले कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की परिस्थितियाँ एक साथ थी? क्या दोनों को एक ही प्रकार के शोषण का सामना करना पड़ रहा था? इसका विस्तुत अध्ययन करने पर हम पाते है कि इंगलैंड के उद्योगों के लिये जो कच्चे माल की आपूर्ति भारत से की जा रही थी वह उच्च कोटि की नहीं थी। इस कमी को पूरा करने के लिये यह आवश्यक था कि अंग्रेज नागरिकों को भारत में मुक्त रूप से जाने तथा बसने की अनुमति हो। इसलिए चार्टर एक्ट 1833 ने यूरोपीय लोगों को भारत में बसने तथा वहाँ सम्पत्ति मोल लेने की अनुमति दे दी। अब अंग्रेजी पूंजी भारत की चाय, काफी, नील और पटसन के बगीचों में लगायी जाने लगी। भारत सरकार ने उन्हें हर प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त कराई। आसाम बेस्टलैण्ड रूस में यह प्रावधान था कि किसी भी व्यक्ति को 3 हजार एकड़ तक भूमि क्षेत्र एक निश्चित राशि के बदले दे दिया जा सकता था और इस पर उन्हें कोई भूमि कर नहीं देना होता था।[9]

अंग्रेजी स्वामित्व वाले बगीचों और कारखानों में मजदूरों की भरती ठेकेदारों के माध्यम से अनुबंध पद्धति द्वारा की जाती थी। ऐसे मजदूरों में बे प्रवासी भारतीय मजदूर भी शामिल थे, जो फिजी, मॉरिशस, नटाल तथा बेस्टइंडीज आदि देशों में यूरोपीय उद्योगों मे काम करने के लिये भेजे जाते थे। जिन्हें गिरमिटीया मजदूर कहा जाता था। ये भरती सिद्धांतत: तो नि:शुल्क होती थी, लेकिन ठेकेदारों के माध्यम से होने के कारण उनके बटे की मांग का बोझ भी मजदूरों पर ही डाल दिया जाता था। पूर्वी भारत के खदानों तथा बगानों के लिये श्रमिक पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मद्रास प्रसीडेंसी से आते थे। इसके विपरीत अहमदाबाद और बंबई के कारखाने श्रमिकों की भरती आस-पास के क्षेत्रों से ही करते थे। अंग्रेज मालिकों ने मजदूरों की भरती के लिये हर प्रकार की जोर-जबरदस्ती और धोखा-धड़ी की नीति अपनाई। भारत सरकार ने भी इस शोषण को कानूनी संरक्षण प्रदान किया। 1859 के Act XIII or Inland Immigration Act of 1882 द्वारा संविदा भंग करना एक फौजदारी जुर्म था।[10] इस कानूनों के माध्यम से अंग्रेज मालिकों को मजदूरों को कैद करने, सजा देने तथा काम

छोड़कर जाने से रोकने का अधिकार मिल गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग्रेजी स्वामित्व वाले उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की स्थिती दासो के समान थी। यह बड़ी ही विचित्र बात है कि एक तरफ भारत सरकार 1843 में कानून बनाकर दास प्रथा को समाप्त कर दिया और दूसरी तरफ 1859 और 1882 में कानून बनाकर अंग्रेज मालिकों द्वारा भारतीय मजदूरों को दास बनाने का अधिकार दे दिया।

दूसरी तरफ भारतीय स्वामित्व वाले कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की परिस्थितियों का अवलोकन करें तो हम पाते हैं कि उनकी परिस्थिति तुलनात्मक रूप से बेहतर थी और यहाँ मुख्य समस्या मजदूरी और काम के घंटो को लेकर थी। बंबई के सूती कपड़ा मिल में मजदूरी करने वाले अर्जुन आत्माराम आल्वे ने असहयोग आंदोलन में शामिल होने की परिस्थितियों को व्यक्त करते हुए कहा था- ''जिस समय हमारा संघर्ष चल रहा था, देश में राजनीति आंदोलन का नगाड़ा बस रहा था, कांग्रेस ने बहुत बड़ा आंदोलन शुरू किया जिसमें भारत के लिए स्वशासन की मांग रखी गई। उस समय हम मजदूर लोग स्वराज का अर्थ सिर्फ इतना समझते थे कि हमारे कर्जे समाप्त हो जाएंगे, सूदखोरों द्वारा दमन खत्म हो जाएगा, हमारी मजदूरी बढ़ेगी, मालिकों द्वारा दमन, उसके मुक्के, लात-घूँसे कानून बनाकर रोक दिए जाऐंगे और इस प्रकार हम मजदूरों को दी जाने वाली यातना का अंत हो जाएगा। हम मजदूरों के मन में ये और इसी तरह के अन्य विचार उठा करते थे और बहुत सारे मजदूरों ने जिसमें मैं खुद भी था, असहयोग आंदोलन के दौरान स्वयं-सेवक के रूप में अपना नाम दर्ज कराया।''[11]

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते है कि ब्रिटिश स्वामित्व में काम करने वाले मजदूरों की परिस्थितियाँ देशी उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों से काफी भिन्न थी। उन्हें अधिक उत्पीड़न और शोषण का सामना करना पड़ रहा था। 1911 की 30.3 जनसंख्या में अनुमानत: 21 लाख लोग ही संगठित उद्योगों में लगे थे और इनमें बगानों के 8 लाख कामगार भी सम्मिलित थे।[12] बगानों के अलावा ब्रिटिश स्वामित्व वाले अन्य कारखानों में भी असंख्य मजदूर कार्य करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मजदूरों की एक बड़ी अबादी दासतापूर्ण बातावरण में काम कर रही थी। उत्पीड़न और शोषण के कारण मजदूरों में असंतोष उत्पन्न हुआ और राष्ट्रवादियों का समर्थन पाकर उन्होंने अपनी मांगों को लेकर आंदोलन प्रारंभ किया। मजदूरों की प्रथम संगठीत हड़ताल ब्रिटिश स्वामित्व वाले Great Indian Peninsular (G.I.P) Railway में सिग्नल पर काम करने वाले मजदूरों ने अपनी विभिन्न मांगों को लेकर किया था। इस हड़ताल को सभी राष्ट्रवादी संगठनों और राष्ट्रीय अखबारों को भरपूर समर्थन मिला। चूँकि यहाँ शोषक विदेशी था, इसलिए यह राष्ट्रीय आंदोलन का हिस्सा बन गया।

भारतीय स्वामित्व वाले उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों के प्रति शुरूआती राष्ट्रवादी नेताओं का जो उदासीनतापूर्ण दृष्टिकोण था, उसका एक प्रमुख कारण अंतराष्ट्रीय जगत में होने वाली घटनाएँ भी थी। फ्रांस की क्रांति के फलस्वरूप यूरोप में समाजवादी बिचारों का उदय हुआ और अनेक समाजवादियों ने मजदूरों की दयनीय स्थिति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। शुरूआती समाजवादियों जिसमें राबर्ट ओवन, लुई ब्लाक तथा सेंट साइमन आदि प्रमुख थे ने मजदूरों की स्थिति सुधाराने का प्रयास किया। ये क्रांति के बदले शांतिपूर्ण परिवर्त्तन में विश्वास रखते थे, अर्थात वे वर्ग संघर्ष के बदले वर्ग समन्वय के हिमायती थे। लेकिन कार्ल मार्क्स के उदय के पश्चात मार्क्सवादी विचारों का प्रसार हुआ। मार्क्स तथा ऐंगल्स ने 1848 में एक साम्यवादी घोषणा पत्र प्रकाशित किया, जिसमें वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत प्रस्तुत किया गया। मार्क्स ने 1864 में First International की स्थापना लंदन में की। इसमें उन्होंने अपने भाषण में मजदूरों को संबोधित करते हुए कहा- "वे अपनी

मुक्ति स्वयं ही और अपने प्रयास द्वारा ही प्राप्त कर सकते है। जब तक कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व व्यक्तिगत हाथों में है तब तक मशीनों का सुधार उद्योग में विज्ञान का प्रयोग और उत्पादन कला में किसी भी सुधार से श्रमिकों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हो सकता। इसलिए उनका अंतिम लक्ष्य पूँजीवाद का विनाश होना चाहिए।"[13] कार्ल मार्क्स हिंसा को क्रांति का अनिवार्य लक्षण मानते थे। वे मानते थे कि मनुष्य मूल रूप से बुराई का प्रतीक है और बुराई का अंत ह्दय परिवर्तन से नहीं बल्कि हिंसात्मक संघर्ष से ही संभव है।

First International का सभी पूँजीवादी देशों ने विरोध किया और इसे समाप्त करने का प्रयास किया। अंत में सन् 1876 में इसे औपचारिक रूप से विघटित कर दिया गया। पुनः 14 July 1889 को पेरिस में Second International की स्थापना की गयी। जिसमें 20 देशों के लगभग 400 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इस सम्मेलन में 1 मई को अंतर्राष्ट्रीय मजदूर दिवस मनाने का निर्णय लिया गया। 1 मई 1890 को सारे यूरोप और अमेरिका में मजदूरों ने हड़ताल और प्रदर्शन किया।[14] Second International ने साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध किया। समाजवादी विचारों के फलस्वरूप अनेक देशों में समाजवादियों का प्रभाव बढ़ा। मजदूर आंदोलन सशक्त हुआ, जिसके फलस्वरूप 1917 में रूसी क्रांति हुई और सर्वहारा वर्ग के शासन की स्थापना हुई।

भारत के राष्ट्रवादी नेता उपरोक्त अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं से भली-भांति परिचित थे। उस समय भारत में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन अपनी शैशवावस्था में था और राष्ट्रवादी नेता किसी भी हालत में नहीं चाहते थे कि भारतीय जनता भीतर से किसी भी तरह विभाजित हो। वे नहीं चाहते थे कि ब्रिटिश शासन के विरूद्ध चलाया जाने बाला संघर्ष कमजोर हो। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दूसरे ही अधिवेशन (1886) में दादा भाई नौरोजी ने यह बात साफ कर दी थी कि ''कांग्रेस को उस सवालों' तक ही सीमित रहना चाहिए, जिसमें पूरे राष्ट्र की भागीदारी हो तथा सामाजिक सुधारों और विभिन्न वर्गों के पारस्परिक समायोजन का कार्य कांग्रेस की उपसमितियों के हवाले कर देना चाहिए।[15] कांग्रेस उस समय इस स्थिति में नहीं थी कि वह सीधा ब्रिटिश सरकार से संघर्ष कर सके। यदि वह ऐसे कार्यक्रमों को हाथ में लेती तो उन्हें सरकार का कोपभाजन बनना पड़ता। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उदारवादी नेतृत्व क्रमिक और संवैधानिक नीतियों में विश्वास करता था। कांग्रेस का संगठन भी इस प्रकार का था कि इसके अधिकांश सदस्य उच्च वाणिज्य वर्गों, बैंकरों, व्यापारियों तथा भू-स्वामियों का प्रतिनिधित्व करते थे। स्वाभाविक है कि ऐसे समूहों से आमूल परिवर्तनवादी कार्यक्रम देने की अथवा अबाध जन-आंदोलन का समर्थन करने की आशा नहीं की जा सकती थी।

19वीं शताब्दी के अंतिम तथा 20वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में एक नए दल का उदय हुआ तो पुराने नेताओं के आदर्शों तथा ढंगों का कड़ा आलोचक था। इस दल को पुराने उदारवादी की तुलना में उग्रवादी या गरम दल कहा गया। गरम दल देश के तीन भागों में अधिक सक्रिय था। महाराष्ट्र दल के नेता थे तिलक, बंगाल दल के नेता थे विपिन चंद्र पाल और अरविंद घोष तथा पंजाब दल का नेतृत्व लाला लाजपत राय कर रहे थे। समकालीन कांग्रेसी नेताओं में तिलक सबसे अधिक उग्र दृष्टिकोण रखते थे। उन्हें भारतीय असंतोष का जनक भी कहा जाता है। उन्होंने ब्रिटिश शासन के खिलाफ राष्ट्रीय आंदोलन चलाने के लिये जनता को प्रेरित करने का काम शुरू किया। 1896 में तिलक ने कपड़े पर लगे उत्पाद शुल्क के विरोध में सारे महारष्ट्र में ''विदेशी वस्त्र बहिष्कार आंदोलन चलाया। शायद वह पहले राष्ट्रवादी नेता थे, जिन्होंने इस तथ्य को पहचाना कि राष्ट्रीय आंदोलन में निम्न मध्य वर्ग, किसान, मजदूर और दस्तकार कितनी महात्वपूर्ण भूमिका निभा सकते है और इसलिए इन लोगों को भी कांग्रेस के साथ जोड़ा जाना चाहिए। 1902 में उन्होंने एक

भाषण में घोषणा की-'' तुम भले ही दलित और उपेक्षित क्यों न हो, तुम्हें यह मालूम होना चाहिए कि यदि तुम चाहो तो प्रशासन को पंगु बना दो। तुम्हीं तो रेले और तारों की व्यवस्था चलाते हो तुम्हीं तो हो जो बंदोबस्त करते और राजस्व की वसूली करते हो....।[16]

20वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों विपिन चंद्र पाल और जी. सुब्रमणयम अय्यर आदि नेताओं ने मजदूरों के हितों की रक्षा के लिये कानून बनाने की मांग शुरू कर दी। 1903 में जी. सुब्रमणयम अय्यर ने इस बात पर जोर दिया कि मजदूरों को आपस में मिलकर संगठित होना चाहिए और अपने अधिकारों को लेकर संघर्ष करने के लिये उन्हें यूनियन बनानी चाहिए और इस लक्ष्य को पाने के लिए जनता को उनकी हर तरह से मदद करनी चाहिए।

जब लार्ड कर्जन ने बंगाल के विभाजन की घोषणा की तो उसके परिणामस्वरूप स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन प्रारंभ हो गया। स्वदेशी आंदोलन के दौरान राष्ट्रवादी नेताओं ने मजदूरों को ट्रेड युनियन बनाने, कोष एकत्र करने, हड़ताल करने तथा कानूनी रूप से काफी मदद पहुँचाई। मजदूरों को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने का प्रयास किया गया और इसमें वे सफल भी रहे। जो मजदूर अब तक सिर्फ आर्थिक मांगों को लेकर संघर्ष और आंदोलन कर रहे थे, उनके अपने आंदोलन और संघर्ष में उस समय के व्यापक राजनीतिक मुद्दे भी शामिल हो गया। जिस दिन बंगाल का विभाजन किया गया, 16 अक्टूबर 1905 को सारे देश में आंदोलन की लहर उठ खड़ी हुई। इसमें बंगाल के मजदूर वर्ग ने समर्थन में हड़ताल की। स्वदेशी तथा बहिष्कार आंदोलन बंगाल के बाहर भी फैल गया। विशेष तौर पर तिलक ने महारष्ट्र में इस आंदोलन का प्रचार किया। तिलक मजदूर वर्ग को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने में सफल रहे। जब 22 जुलाई 1908 को तिलक को देशद्रोह के मुकदमें में सजा सुनाई गई थी। उस दिन बंबई के सारे बाजार बंद रहे और एक हप्ते तक यह बंद जारी रही। बंबई की सभी 80 कपड़ा मिलों और रेल मजदूरों ने छह दिन की हड़ताल की। पुलिस ने जब मजदूरों को काम पर वापस भेजने के लिये मजबूर किया, तो मजदूरों ने उसका जमकर विरोध किया। पुलिस और मजदूरों के बीच कई जगहों पर संघर्ष हुआ, ब्रिटिश सरकार ने मजदूरों के दमन के लिए सेना बुलाई। 16 मजदूर मारे गए और लगभग 50 मजदूर गंभीर रूप से घायल हुए। मजदूरों के इस संघर्ष की सराहना लेनिन ने भी की कि भारत मजदूर वर्ग अब राजनीति में सक्रिय हिस्सा लेने लगा है।[17]

स्वदेशी आंदोलन के दौरान श्रमिक आंदोलन इतना प्रबल रूप में उभरा कि एक Anglo-Indian अखबार Pioneer ने 27 अगस्त 1906 को लिखा कि ''राजनीतिक विभाजन के संबध और इसके विरोध में जी भर कर आंदोलन करें, किंतु अब जबकि वे अज्ञानी श्रमिकों के मन में असंतोष का बीज बोकर पूरे प्रांत के लिए खतरा उत्पन्न करना चाहते है। समय आ गया है कि कानून और व्यवस्था स्थापित करने वाली सरकार अपनी ताकत दिखाए।''[18] सरकार ने आंदोलन को दबाने के लिए दमन का सहारा लिया। लेकिन मजदूरों के मन में जो असंतोष का बीज उत्पन्न हो गया था, उसे दबाया नहीं जा सका और इस दौरान भारतीय श्रमिक वर्ग काफी हद तक राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा में शामिल हो गया।

स्वदेशी आंदोलन के पश्चात् एक सरकारी सर्वेक्षण कराया गया जिसका शीर्षक था- "Administration of Bengal under Andrew Preser" इसमें औद्योगिक असंतोष को 1903-08 की अवधि का महत्वपूर्ण लक्षण बताया गया था और पेशेवर आंदोलन कारियों की भूमिका को एक नितांत नवीन संवृत्ति कहा गया था।[19]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मजदूर वर्ग भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का एक अभिन्न अंग बन गया। स्वदेशी आंदोलन के पश्चात जितने भी आंदोलन हुए उसमें मजदूरों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। आगे

चलकर देश की जनता को महात्मा गाँधी का नेतृत्व प्राप्त हुआ जिन्हें समाज के सभी वर्गो का समर्थन प्राप्त था। मजदूर वर्ग ने भी उनके नेतृत्व में प्रत्येक आंदोलन में हिस्सा लिया और आंदोलन को सफल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक में मजदूर वर्ग वामपंथी विचारधारा से प्रभावित होने लगे। वामपंथियों ने कई मौकों पर राष्ट्रीय आंदोलन से अलगाव की नीति अपनाई। लेकिन अधिकांश मजदूरों ने राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेकर राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सन्दर्भ ग्रंथसूची

1. बी०एल० ग्रोवर, *यशपाल आधुनिक भारत का इतिहास,* नई दिल्ली, 2006, पृ०-448.
2. चोपड़ा पुरी, दास, *भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास*, भाग-3, नई दिल्ली 2012, पृ०-144.
3. बी०एल० ग्रोवर, पूर्वोद्धृत, पृ०-448.
4. एन०सी०ई०आर०टी० *विश्व इतिहास के कुछ विषय*, वर्ग-XI पटना, 2007, पृ०-210.
5. बी०एल० ग्रोवर, पूर्वोल्लिखित, पृ०-347.
6. उपरोक्त, पृ० 206-207.
7. उपरोक्त, पृ०-347
8. सुमित सरकार, *आधुनिक भारत,* नई दिल्ली, 2010, पृ०-105.
9. बी०एल० ग्रोवर, पूर्वोल्लिखित, 450.
10. उपरोक्त, पृ०-450.
11. बिपिन चन्द्र, *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष,* नई दिल्ली, 2000, पृ०-164.
12. सुमित सरकार, पूर्वोल्लिखित, पृ०-59.
13. एन०सी०ई०आर०टी०, *इतिहास की दुनिया,* वर्ग-X, पटना, 2010-11, पृ०-27.
14. उपरोक्त, पृ०-28.
15. बिपिन चन्द्र, पूर्वोल्लिखित, पृ०-158.
16. सुमित सरकार, पूर्वोल्लिखित, पृ०-118.
17. बिपिन चन्द्र, पूर्वोल्लिखित, पृ०-74.
18. सुमित सरकार, पूर्वोल्लिखित, पृ०-137.
19. उपरोक्त - पृ०-136.

बिहार में कृषि सांख्यिकी की वर्तमान स्थिति एवं चुनौतियाँ

डॉ० मनोज कुमार यादव

एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, टी.पी कॉलेज, मधेपुरा

सार-संक्षेप

आजादी के समय बिहार की लगभग 80 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर करती थी तथा राज्य के वार्षिक आय में कृषि का योगदान लगभग 17 प्रतिशत है यह क्षेत्र राज्य में लगभग 67 प्रतिशत लोगों को रोजगार प्रदान करता है। कृषि उत्पादन में खाद्यान्न उत्पादन का बिहार के अर्थव्यवस्था में प्राचीन समय से ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वर्तमान में विज्ञान के इस बढ़ते चरणों के कारण भारतीय कृषकों की दुनिया बदल रही है। एक नए युग का सूत्रपात हुआ है, विकास क्रम तेजी से चल रहा है। यह एक हर्ष की बात है कि भारतीय कृषक विश्व के अन्य कृषकों के समान ही बुद्धिमान और गुणशील है इसी के साथ भारतीय कृषक कृषि उत्पादन करने के आधुनिक तरीके भी अपना रहा है। कृषि करने के यंत्रों से लेकर रासायनिक खाद, उन्नत बीज, आधुनिक तकनीक अपनाकर मनुष्य प्राचीन काल की तुलना में कई गुना अधिक उत्पादन करने लगा। इस प्रकार कृषि ने मानव सभ्यता को एक नए आयाम पर लगातार खड़ा कर दिया। वर्तमान में कृषि का विकास केवल अधिक कृषि उत्पादन तक ही सीमित न होकर सुव्यवस्थित विपणन पद्धति में निहित है।

परिचयः-

बिहार की अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा प्राचीन समय से अर्वाचिन काल तक यहाँ अर्थव्यवस्था में कृषि पर लोगों की निर्भरता रही है। आजादी के समय बिहार की लगभग 80 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर करती थी तथा राज्य के वार्षिक आय में कृषि का योगदान लगभग 17 प्रतिशत है यह क्षेत्र राज्य में लगभग 67 प्रतिशत लोगों को रोजगार प्रदान करता है। कृषि उत्पादन में खाद्यान्न उत्पादन का बिहार के अर्थव्यवस्था में प्राचीन समय से ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वर्तमान में विज्ञान के इस बढ़ते चरणों के कारण भारतीय कृषकों की दुनिया बदल रही है। एक नए युग का सूत्रपात हुआ है, विकास क्रम तेजी से चल रहा है। यह एक हर्ष की बात है कि भारतीय कृषक विश्व के अन्य कृषकों के समान ही बुद्धिमान और गुणशील है इसी के साथ भारतीय कृषक कृषि उत्पादन करने के आधुनिक तरीके भी अपना रहा है। कृषि करने के यंत्रों से लेकर रासायनिक खाद, उन्नत बीज, आधुनिक तकनीक अपनाकर मनुष्य प्राचीन काल की तुलना में कई गुना अधिक उत्पादन करने लगा। इस प्रकार कृषि ने मानव सभ्यता को एक नए आयाम पर लगातार खड़ा कर दिया। वर्तमान में कृषि का विकास केवल अधिक कृषि उत्पादन तक ही सीमित न होकर सुव्यवस्थित विपणन पद्धति में निहित है। प्राचीन समय में यह कहावत थी कि एक अच्छे कृषक की "एक आँख हल पर और दूसरी आँख बाजार पर होती है।" परन्तु कृषि विकास के साथ-साथ व्यापारिक फसलों का महत्त्व बढ़ा और कृषि विपणन का महत्त्व भी बहुत बढ़ा है। कृषि जीवन निर्वाह का साधन न होकर एक व्यवसाय बन गई है। वर्तमान में यह कहा जाता है कि,

एक अच्छे कृषक के दोनों हाथ हल पर तथा दोनों आँखें बाजार पर लगी रहती है।' योजना में कहा गया है कि, "राज्य की अर्थव्यवस्था में कृषि विपणन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृषि उत्पादन को तब तक पुरा नहीं कहा जा सकता जब तक की पैदावार बिक न जाए केवल अधिक उत्पादन कर लेने से ही भूमि के जोतने वालों को लाभ नही पहुँच सकेगा वरन् यह भी आवश्यक है कि पैदावार की बिक्री के लिए कुशल व्यवस्था की जाए।" कृषि उपज की प्राचीन विक्रय पद्धति में कई दोष थे।

बिहार के साथ-साथ सम्पूर्ण देश के कृषक अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साहूकारों से ऋण लिया करता था तथा उपज उत्पादित होने पर ऋण के बदले अपनी उपज उसे दे दिया करता था, इस प्रकार साहूकार भोले-भाले किसानों की उपज प्राप्त कर ऋण राशि से कई अधिक राशि प्राप्त कर लेता था। कृषकों को अपनी उपज मजबूरी में साहूकारों को प्रदान करनी पड़ती थी। कहा भी गया है कि "भारतीय कृषक ऋण में ही जन्म लेता है, और ऋण में ही मरता है, और विरासत के रूप में अपनी संतानों को ऋण ही सौपता है।"

कृषक शेष बची उपज को गाँव के ही छोटे व्यापारियों को बेच देते थे ये व्यापारी छोटी-छोटी मात्रा में एकत्र की गई उपज को शहर के व्यापारियों को लाभ लेकर बेच देते थे। इस प्रकार उपज का जो प्रतिफल कृषक को प्राप्त होना चाहिए था वह ग्रामीण व्यापारी व कृषक में बँट जांता था वहाँ ग्रामीण व्यापारी कृषक से उपज सस्ते मूल्य पर प्राप्त करते ही थे साथ ही तौल आदि में भी बेईमानी करते थे। यही कारण था कि कृषक अपना पसीना बहाने के बावजूद फल-फूल नहीं पाता था। विक्रय पद्धति के उपरोक्त दोषों को दूर करने तथा कृषक की इस स्थिति को सुधारने के लिए सरकार द्वारा कृषि सांख्यिकी संस्थानों की स्थापना की गई है। जिसका प्रमुख उद्देश्य कृषक द्वारा उत्पादित कृषि उपज का उचित मूल्य दिलाना तथा मंडियों का नियमन कर ऐसी व्यवस्था करना है कि तौल व भूगतान आदि में किसी प्रकार से कृषकों का शोषण न हो पाए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जब बिहार के साथ-साथ सम्पूर्ण देश को विकास की आवश्यकता महसूस हुई तो योजनाबद्ध विकास मॉडल में कृषि क्षेत्र को प्राथमिकता दी गई। कृषि अनुसंधान से संबंधित संस्थाओं मुख्यत: भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद और विभिन्न क्षेत्रों में कृषि महाविद्यालयों की स्थापना की गई। बिहार में जिला मुख्यालय से लेकर गाँवों तक आधुनिक कृषि तकनीकी के प्रचार प्रसार के लिए विभाग ने अपने विस्तार कार्यक्रमों और फार्म दर्शनों के माध्यम से कृषि तकनीकी (हरित क्रांति और खेत क्रांति) का प्रचार प्रसार किया। लेकिन जैसा कि कहा जाता है कि नगरों में परिवर्तन और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया जितनी तीव्र व द्रुतगामी होती है उतनी ग्रामीण क्षेत्र में नहीं होती है यही ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि तकनीकी प्रचार प्रसार के साथ हुआ हरित क्रांति का प्रभाव नगरों से लगे हुए गाँवों विशेषकर जहाँ सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध थी शिक्षा का उच्च स्तर था। जागरूकता के परिणामस्वरूप आधुनिक कृषि तकनीकी के ठीक तरह से उपयोग की जानकारी थी साथ ही आर्थिक रूप से सम्पन्न क्षेत्रों में हुआ, लेकिन दूर दराज के ग्रामीण क्षेत्रों में नही हो पाया। कृषि का डिजिटलीकरण किया जा रहा है और इसमें स्मार्ट फोन की अहम भूमिका है। स्मार्टफोन पर बाजार मूल्य की जानकारी, फसलों की बीमारी की स्थिति में फसल की तस्वीर खींचकर कृषि विशेषज्ञों से रोग की रोकथाम की जानकारी, उर्वरकों के प्रयोग की मात्रा तथा कई प्रकार की अहम जानकारी घर बैठे प्राप्त की जा सकती है।

बिहार में आज भी बहुत से ऐसे ग्रामीण क्षेत्र है, जिनमें परम्परागत कृषि तकनीकी और तौर तरीकों से कृषि कार्य किए जा रहे है। बढ़ती जनसंख्या का प्रभाव कृषि उत्पादन पर भी पड़ता है परिणामस्वरूप कृषि से जो उत्पादन होता है, वह सभी के लिए पर्याप्त नहीं होता है। बिहार में कृषि योग्य भूमि सीमित है ऐसी दशा में दूर दराज के ग्रामीण कृषक तक फसल उत्पादन हेतु कृषि की

आधुनिक उन्नत तकनीकी पहुँचाना जरूरी हो जाता है, इन क्षेत्रों में आधुनिक कृषि तकनीकी के प्रचार प्रसार में अनेक समस्याएँ है। इन समस्याओं के बावजूद शासकीय प्रयासों के परिणामस्वरूप लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें आधुनिक कृषि तकनीकी को अपनाना ही पड़ता है।

बिहार के कृषि समंकों में कई और कमियां हैं। इन दोषों के कारण ऐसे समंकों की विश्वसनीयता संदेहास्पद है। राज्य योजना परिषद को भी कई कठिनाइयों का सामना इनमें विद्यमान कमियों के कारण करना पड़ा है। यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है तथा कृषि सम्बन्धी आंकड़ों की शुद्धता में पर्याप्त सुधार हुआ है फिर भी उसमें कई कमियां शेष हैं जिन्हें दूर करने की आवश्यकता है।

1. अपर्याप्तता- बिहार के साथ-साथ सम्पूर्ण भारत में कृषि सम्बन्धी आंकड़े अपूर्ण हैं। सम्पूर्ण क्षेत्र के 87 प्रतिशत भाग से सम्बन्धित आंकड़े उपलब्ध हैं। शेष के सम्बन्ध में अनुमानित आंकड़े ही दिये जाते हैं। ऐसे क्षेत्र, जम्मू और काश्मीर, राजस्थान आसाम और गुजरात में हैं जो या तो पिछड़े हुए क्षेत्र हैं या दुर्गम प्रदेशों में स्थित हैं। जिन भागों से आँकड़ें प्राप्त होते हैं उनमें में कुछ भागों के नक्शे एवं चार्ट उपलब्ध नहीं है। कुछ भागों में प्राथमिक आंकड़ों के संकलन तथा उनकी जाँच का उचित प्रबन्ध नहीं है। बहुत सी फसलों जैसे फल, सब्जी, मसाले आदि में कोई आंकड़े एकत्रित नहीं किये जाते हैं। सरकार द्वारा इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।
2. एकरूपता का अभाव- संकलन की रीतियाँ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग हैं। यही नहीं, विभिन्न सांख्यिकी इकाइयों में आंकड़े एकत्रित करने की रीतियाँ अलग-अलग हैं। खेतों में विभिन्न प्रकारों, क्षेत्रफल एवं उत्पादन तथा पूर्वानुमानों में एकरूपता का अभाव है।
3. सारणीयन सम्बन्धी दोष- कृषि समंकों का वर्गीकरण और सारणीयन संतोषप्रद ढंग से नहीं किया जाने के कारण मानवीय शक्ति, समय और पैसे का दुरूपयोग होता है। कृषि सम्बन्धी कई आंकड़े प्राथमिक क्षेत्रों में तैयार किये जाते हैं किन्तु उसी प्रकार के आंकड़े अन्य क्षेत्रों में तैयार न होने के कारण अखिल भारतीय आधार पर उन्हें संकलित नहीं किया जा सकता है। इसी भाँति उपयोगिता सम्बन्धी आंकड़ों के वर्तमान वर्गीकरण में भूमि की विभिन्न प्रयोगों के लिए उपादेयता पर कोई विचार नहीं किया जाता है।
4. प्राथमिक सूचना देने वालों का दोष- इन समंकों का सबसे बड़ा दोष प्राथमिक सूचना देने वालों का अभाव या उनके कर्त्तव्य पालन का अभाव है। यह ऊपर बताया जा चुका है कि प्रायः प्राथमिक सूचना देने का कार्य पटवारियों से लिया जाता है उन्हें आंकड़ों के संकलन की उचित शिक्षा नहीं दी जाती है। वे कार्य-भार के कारण भी इस और अधिक रूचि नहीं देते हैं।
5. नियोजन और समन्वय के दोष- कृषि समंकों में नियोजन का अभाव है और खाद्य एवं कृषि सम्बन्धी आंकडों में समन्वय नहीं है। विभिन्न राज्यों में स्वतन्त्र संस्थानों द्वारा आंकड़े एकत्रित किये जाते हैं। कभी-कभी तो एक ही तरह के आंकड़े कई संस्थाओं द्वारा एकत्रित किये जाते हैं। इससे धन और शक्ति का अपव्यय होता है और विभिन्न सांख्यिकीय इकाइयों तथा रीतियों के प्रयोग के कारण संकलित सामग्री भिन्न और भ्रमोत्पादक होती है। केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन इस दिशा में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है।
6. निरीक्षण सम्बन्धी दोष- कृषि सम्बन्धी आंकड़ों के निरीक्षण का उत्तरदायित्व मालगुजारी विभाग के कर्मचारियों, कानूनगों, नायव तहसीलदार, तहसीलदार इत्यादि पर होता है। ये इस

ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देते हैं। इसका यह कारण है कि उनका प्राथमिक कार्य लगान वसूल करना तथा भूमि सम्बन्धी प्रबन्ध करना होता है।

7. प्रकाशन में देरी- कृषि सम्बन्धी समंकों का प्रकाशन बहुत देर से होता है जबकि उसका महत्व ही समाप्त हो जाता है। फसल सम्बन्धी अनुमान का प्रकाशन उस समय हो पाता है जब फसल कटकर बाजार में आ जाती है। इससे उन आंकड़ों की उपयोगिता नष्ट हो जाती है।
8. कुछ मदों के विषय में समंकों का न होना- अभी भी बहुत सी ऐसी मदें हैं जिनके जिनके आंकड़े उपलब्ध नहीं है। यह आवश्यक है कि कृषि सम्बन्धी आंकड़े सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित हों।

हमारी राष्ट्रीय सरकार इन दोषों के प्रति जागरूक है। पुरानी रीतियों के स्थान पर वैज्ञानिक रीतियों का उपयोग किया जा रहा है। आंकड़ों के क्षेत्र में भी विकास हुआ है। जिन भागों के नक्शे और चार्ट नहीं थे उनकी पैमाइश की जा रही है।

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि समंकों में सुधार

कृषि समंकों में सुधार एवं समन्वय हेतु संयुक्त राष्ट्र की F.A.O. की एक तकनीकी समिति ने सन् 1949 ई0 में कृषि समंकों में कई दोष बतलाये थे इस प्रश्न पर विचार-विमर्श हुआ। कृषि एवं खाद्य मन्त्रालय के आर्थिक एवं सांख्यिकी मामलों में सलाहकार ने भी इन समंकों में सुधार करने के लिए कई प्रयत्न किये। 1962 में राष्ट्रीय राज्य कृषि ज्ञान बोर्ड (The National&State Agricultural Intelligence Board) ने अपनी बैठक में भी प्राथमिक प्रतिवेदन अभिकर्ताओं के कार्य क्षेत्र में समुचित सुधार करने की सिफारिश की थी।

कृषि विकास से तात्पर्य केवल उत्पादकता में वृद्धि से नहीं है, यह सम्पूर्ण कृषि क्षेत्र से सम्बन्धित है। कृषि आर्थिक क्रिया होने के कारण इसे विकसित करने हेतु भूमि श्रम, पूँजी निवेश और संगठन को कुशल व्यवस्था देना आवश्यक है। कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था को रीढ़ होने के कारण यहाँ के सामाजिक आर्थिक विकास का मापदंड रही है और रहेगी। स्वतंत्रता प्राप्ति से देश में खाद्यान्न आत्मनिर्भरता हासित करने तथा खाद्यान्न की कमी को दूर करने में कृषि सांख्यिकी की अहम् भूमिका रही है। वहीं कृषि क्षेत्र में आशातीत वृद्धि हुई है, कृषि की वृद्धि के ढंग से अलग-अलग क्षेत्रों, फसलों एवं कृषक समुदाय के विभिन्न वर्गों का असमान विकास हुआ है तथा कुछ क्षेत्रों में कृषि विकास स्तर नीचे गिरा है वहीं प्राकृतिक संसाधनों का ह्रास हुआ है परिणाम स्वरूप 1990 के दशक में कृषि में गिरावट की प्रवृत्ति देखी गई है।

बिहार में भी कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था है, जहाँ 71.10 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्र में रहते हुए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है इसलिए सम्पूर्ण क्षेत्रफल के 82.56 प्रतिशत भाग कृषि कार्य हेतु उपयोग किया जा रहा है। अतः पूँजी की अपर्याप्ता, अभिसंरचनात्मक सहायता का अल्पविकास तथा संचालन पर नियन्त्रण, भण्डारण और कृषि उत्पादों की बिक्री जैसी माँग के पक्ष में बांधायें कृषि क्षेत्र की आर्थिक व्यवहार्यता को प्रभावित कर रही है और लगातार प्रतिकूल मूल्य संवर्धन के कारण कृषि एक अलाभप्रद व्यवसाय हो गया है। फलस्वरूप इस क्षेत्र में शस्य गहनता, कृषि उत्पादकता, प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न उर्वरक उपयोग, उच्च उपज देने वाली प्रजातियाँ का उपभोग

स्तर अपेक्षाकृत न्यून है। राज्य में कृषि क्षेत्र की महत्ता केवल खाद्यान्न उत्पादन की दृष्टि से ही नहीं अपितु उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति हेतु भी है, इसलिये स्थाई एवं टिकाऊ विकास के लिए कृषि विकास आवश्यक है। अतः आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका में कृषि सांख्यिकी विकास के अन्तर्गत निम्न अवरोध पाये गये हैं-

- भौतिक
- प्रौद्योगिकीय
- संस्थागत
- भौतिक अवरोध

आज के तकनीक युग में भी कृषि भौतिक कारकों से अत्यन्त प्रभावित है, कृषि भूमि का वितरण, कृषि तकनीकी, उत्पादन काल तथा फसलों का वितरण आदि सभी प्रमुख पक्ष भौतिक कारकों से निर्धारित होते हैं। इस प्रकार कृषि एक ऐसी आर्थिक क्रिया है, जो भौतिक पर्यावरण एवं माननीय सम्बन्धों के विषम अर्न्तसम्बन्ध को प्रकट करती है। इसी को फाउण्ड ने अपनी पुस्तक 'ग्रामीण भूमि उपयोग प्रतिरूप का सैद्धान्तिक उपागम' में लिखा है कि-ग्रामीण भूमि उपयोग को क्षेत्र की भौतिक सम्पदा मिट्टी की गुणवत्ता या लोगों के आन्तरिक भावनाओं जैसे वास्तविक सम्पत्ति के प्रतिबिम्ब के रूप में देखा जा सकता है। इसी प्रकार डी.डब्लू. हार्वि ने अपने बहुचर्चित आलेख 'सैद्धांत्तिक अवधारणा एवं कृषि भूमि उपयोग मे कृषि को प्रभावित करने वाले कारकों को तीन वर्गों में रखा है-प्रथम कृषि क्षेत्र का वन्य पारिस्थितिकी तंत्र, जिसे स्थानीय कारक कहा जाता है, द्वितीय सापेक्षिक स्थित तथा तृतीय-कृषक की व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक दशायें।

कृषि विकास का आधार ही भौतिक पर्यावरण (उच्चावच्चन, भौतिकी, मिट्टी, अपवाह एवं जलवायु) में तैयार होता है, जिसमें मानव अपनी क्षमता (तकनीकी, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक) एवं आवश्यकता के अनुरूप संशोधन करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कृषि विकास, भौतिक कारकों से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान खोजा है, किन्तु यह सीमित क्षेत्रों में ही हो सका है। जैसे-सिंचाई द्वारा शुष्क एवं अर्द्धशुष्क प्रदेशों में कृषि भूमि का विस्तार हुआ है अथवा फसलों के नये बीजों की मदद से कम उपयुक्त क्षेत्रों में कृषि प्रारम्भ की जा सकी है, कीटाणुनाशक दवाओं के द्वारा बीमारियों की रोकथाम की गई है, तथापि, भैगोलिक बाधायें किसी भी प्रदेश की कृषि के मूल आधार का निर्धारण करते हैं। इन भौगोलिक बाधाओं, में धरातल, जलवायु, मिट्टी एवं जल प्रमुख हैं।

तापमान बिहार क्षेत्र में तापमान सामान्यतः ऊँचा रहता है, जो कृषि के अनुकूल है, यदि जल निर्बाध रूप में मिल सके तो वर्ष भर कृषि की जा सकती है, किन्तु तापमान सम्बन्धी कुछ समस्याएँ हैं जो कृषि को हानि पहुँचाती है। अधिक तापमान के कारण वर्षा प्रभावित भी कम हो जाती है। उच्च तापमान के कारण वर्षा का पूरा लाभ फसलों को नहीं मिलता। शीतकाल में इस क्षेत्र में अधिकांशतः रब्बी की फसल बोई जाती है विशेष रूप से इसमें गेंहूँ की फसल पैदा की जाती है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वृहद आँकड़ो का उपयोग अच्छी योजना एवं कृषि विकास के लिए योजना बनाने में होता है। जनसंख्या में लगातार हो रही वृद्धि एवं जलवायु परिवर्तन के कारण, कृषि में सुधार के लिए वृहद आँकड़ो की उपयोगिता बढ़ गयी है। वृहद आँकड़े बड़े एवं जटिल आँकड़ो का एक संग्रह होता है, जिनकी मानवीय गणना या पारंपरिक आँकड़ा प्रसंस्करण तकनीक से आँकड़ो का प्रबंधन कठिन हो जाता है। वृहद आँकड़ो का भण्डारण एवं विश्लेषण के

लिए गणनात्मक प्रणाली में उच्च निष्पादन संगणना की आवश्यकता होती है। कृषि विकास में सबसे बड़ी बाधा, पुराने ढंग अथवा परंपरागत कृषि प्रणाली है, जिसके कारण हम वैज्ञानिक रूप से विकसित कृषि पद्धति का उपयोग मृदा निर्माण, फसलों की समय से बुआई, सिंचाई एवं फसल कटाई में नहीं कर पाते हैं। मौसम, मृदा एवं फसल विकास के विभिन्न स्तर पर वास्तविक काल श्रृंखला आँकड़ों को इकट्ठा कर खेती के लिए एक अच्छा निर्णय लेने में वृहद आँकड़ों का इस्तेमाल किया जा सकता है। उन्नत सांख्यिकीय अनुसंधान से एक बेहतर प्रारूप की संरचना कर सकते हैं जिससे हम आने वाली परिस्थितियों का पूर्वानुमान कर किसानों के लिए एक बेहतर निर्णय लेने में मदद कर सकते हैं।

संदर्भ स्रोतः-

1. संगीता यादवय "कृषि उत्पादन बढाने का फसली अभियान" कुरूक्षेत्र, ग्रामीण विकास मंत्रालय नई दिल्ली, वर्ष 58, अंक 2, (दिसम्बर 2011) पृ. सं. 15,
2. कृषक जगत: "राष्ट्रीय कृषि अखबार" (साप्ताहिक) संपादक कृषक जगत भोपाल मई वर्ष 59, अंक 33, (2015) पृ.सं.-7
3. नवल किशोरय 'भारतीय किसान और उनकी मूलभूत समस्याएँ' कुरूक्षेत्र, ग्रामीण विकास मंत्रालय नई दिल्ली, (दिसम्बर 2015) पृ.सं. 29, वर्ष 58, अंक 2,
4. डॉ. फुन्दन सिंह एवं डॉ. महेन्द्र सिंहय "खाद्यान्न की समस्या" प्रकाशक पंचकलश, प्रेस भोपाल, (2016) पृ.सं. 37-38
5. मधरानी "धान की वैज्ञानिक खेती" कुरूक्षेत्र, ग्रामीण विकास मंत्रालय नई दिल्ली, वर्ष 56, अंक 5, (मई 2016) पृ.सं.-35
6. भावना ठाकुर, "किसान सुपर बाजार किसान के द्वार" कुरूक्षेत्र, ग्रामीण विकास मंत्रालय नई दिल्ली, वर्ष 61, अंक 2, (फरवरी 2014) पृ.सं.-19
7. पी.के. अग्रवालय "कृषि विपणन के कुरूक्षेत्र अक्टुबर (2016) पृ.सं. 39 क्षेत्र में सुधार की भावी दिशाएँ"

हिन्दी कहानी की विकास यात्रा

विनय कुमार

शोधकर्ता, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

कहानी व्यक्ति की अनुभूतियों के क्षय का विस्तार है। यह विस्तार स्वानुभूति के साथ परानुभूति को भी स्वानुभूति के स्तर पर अभिव्यक्त करता है। कविता इस रूप में कहानी के समीप जान पड़ती है। दोनों में अन्तर केवल कथन का है। कविता लय में जीती है, कहानी भंगिमा में। इसी भंगिमा में कहानी का सौन्दर्य निहित है। इसके बावजूद कहानी की जगह कविता ही आलोचकों को प्रिय रही है। इसका प्रमुख कारण कहानी विधा की प्रकृति को माना जाता है। कहानी वैसी चुनौती प्रस्तुत नहीं कर सकती, जितनी कविता। विश्लेषणसह्य कविताएँ अधिक होती है, जबकि कहानियाँ कम। यह इसलिए कि कहानी का मूलधर्म घटनात्मकता है, जबकि कविता का मूलधर्म भावात्मकता है। इसी तरह उपन्यास और कहानी दोनों ही साहित्य की गद्य विधा है। इसमें जीवन की व्याख्या एक निश्चित उद्देश्य से होता है। इन दोनों में मुख्य रूप से मूल अंतर यह है कि उपन्यास में जीवन का तुलनात्मक अधिक व्यापक चित्रण होता है और कहानी में एक घटना अथवा व्यक्ति विशेष का चित्रण होता है। कहानी सचमुच साहित्य की एक विधा है, जिसका मूल उद्देश्य है जीवन की व्याख्या के साथ-साथ मनुष्य की अनुभूतियों को आन्दोलित करना और उसे अपरिमित मनोरंजन अथवा रस प्रदान करना।

आधुनिक युग में कहानी साहित्य की एक सशक्त विधा के रूप में उभरी है। कहानी के स्वरूप तथा महत्व को समझने के लिए आवश्यक है कि पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों द्वारा दी गयी इसकी परिभाषा को ठीक से जाना जाए। प्रेमचन्द के अनुसार 'कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें नायक महफिल शुरु होते ही अपनी पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है। एक क्षण में चित्र को अपने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात भर कहानी सुनने से भी नहीं हो सकता।' इसी प्रकार राधाकृष्ण कहानी को सौन्दर्य की एक झलक का रस स्वीकारते हैं। उनके अनुसार यह झलक इतनी होती है कि उसकी स्थाई रेखा अपने अन्तर्पट में अंकित हो जाती है। श्यामसुन्दर दास की दृष्टि में 'कहानी का एक निश्चित लक्षण है तथा इसका प्रभाव नाटकीय आख्यान है'।

जैनेन्द्र कुमार के अनुसार- 'कहानी तो एक भूख है, जो निरंतर समाधान पाने की कोशिश करती है। हमारे अपने सवाल होते हैं, आशंकाएं होती हैं, चिताएँ होती हैं, हम ही उसका उत्तर देने, उसके समाधान किये जाने और पाने का सतत् प्रयत्न करते रहते हैं। हमारा प्रयोग होता रहता है, उदाहरण और खोज होते रहते हैं। कहानी उस खोज के प्रयास का एक उदाहरण है।'

अज्ञेय के विचार में- 'कहानी जीवन की परिभाषा है और जीवन स्वयं अधूरी कहानी है, एक शिक्षा है जो उम्र भर मिलती है और समाप्त नहीं होती।' इलाचंद जोशी के अनुसार 'जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्ष में उल्टा-सीधा चलता रहता है'। इस सुवृहद् चक्र की विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति का प्रदर्शन ही कहानी होती है।

डॉ० गगनदेव चौधरी की दृष्टि में- 'कहानी जीवन की मार्मिक घटनाओं की सकारात्मक अभिव्यक्ति है। वह अनंत अतीत से चलकर अनंत भविष्य की ओर जा रही है और जाती रहेगी। उसमें जीवन धड़कन मापने की अद्‌भुत क्षमता होती है।'

सामान्यत: कहानी के छह तत्त्व माने गये हैं-

1. कथावस्तु
2. पात्र एवं चरित्र-चित्रण
3. कथोपकथन एवं संवाद
4. भाषा एवं शैली
5. वातावरण एवं देश काल
6. उद्देश्य एवं विषय।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से सामान्यत: कहानी की निम्नांकित शैलियाँ प्रचलित हैं-

क) वर्णनात्मक शैली (साधारण शैली)

ख) आत्मकथात्मक शैली (आत्मचरितात्मक शैली)

ग) कथोपकथन शैली (वार्तालाप-डायलॉग)

घ) पत्रात्मक शैली

ङ) डायरी शैली

कहानी के लिए 'गल्प', 'आख्यायिका', 'गाथा', 'आख्या', 'वृत्तान्त' आदि पर्याय का प्रयोग हुआ है। 'कथा' का साधारण अर्थ 'जो कहा जाए' है। कथा शब्द ही अप्रभ्रंश में 'कहा' का रूप ग्रहण कर अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि भाषाओं में कहनी, कहानी आदि पदों में बदल गया है। 19वीं सदी के आरंभ में इंशा अल्ला खाँ ने अपनी रोमानी गद्य-कथा 'रानी केतकी की कहानी' और सदल मिश्र ने अपनी पौराणिक कथा को 'नासिकेतोपाख्यान' कहा है। 19वीं शताब्दी के पहले तीन चरणों में मुद्रित हिन्दी कथाओं के लिए 'कहानी', 'उपाख्यान', 'वृत्तान्त' आदि पद प्रचलित थे। 'सरस्वती' के प्रकाशनारंभ (1900 ई०) के साथ इसके पहले अंक में प्रकाशित रचना 'इन्दुमती' को गोस्वामी जी ने जहाँ 'आख्यायिका' कहा है, वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'कहानी' कहा। संभवत: प्रथम बार हिन्दी में आख्यायिका शब्द का प्रयोग बाबू श्यामसुंदर दास ने किया। प्रेमचन्द में 1908 ई० में 'सोजेवतन' में इसे कहानी पद के रूप में प्रयोग किया। शुक्लजी की स्वीकृति की मुहर लगने के बाद चौथे दशक में शॉर्ट स्टोरी के लिए लघु-कथा (संक्षेप में कहानी) पद आलोचकों और कहानीकारों दोनों के बीच लगभग सर्वमान्य हो गया।

आधुनिक हिन्दी कहानी का विकास जहाँ एक ओर परम्परा से संबद्ध था, वहीं दूसरी तरफ पश्चिम की परिकल्पना का संयोजन हुआ। हिन्दी की प्रथम कहानी को लेकर हिन्दी समाज में मतैक्य का अभाव है। कुछ आलोचक 'रानी केतकी की कहानी' (1803) तो कुछ शिव प्रसाद सितारे हिंद

विरचित 'राजा भोज का सपना' (1886) को प्रथम कहानी घोषित करते हैं। परंतु कथा बुनावट एवं शैली मध्यकालीन न होने के कारण इस उद्घोषणा में दम नहीं है। हिन्दी में आधुनिक ढ़ंग की कहानियों का लिखा जाना 20वीं शताब्दी के पहले दशक में प्रारंभ हुआ। 'सरस्वती' में प्रकाशित मौलिक कहानियों की सूची आचार्य शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में इस प्रकार दी है-

इन्दुमती (किशोरी लाल गोस्वामी)	-	1900 ई०
गुलबहार (किशोरी लाल गोस्वामी)	-	1902 ई०
प्लेग की चुड़ैल (मास्टर भगवान दास)	-	1902 ई०
ग्यारह वर्ष का समय (रामचन्द्र शुक्ल)	-	1903 ई०
पंडित और पंडितानी (गिरजादत्त वाजपेयी)	-	1903 ई०
दुलाई बाई (बंग महिला)	-	1907 ई०

'इन्दुमती' को शेक्सपीयर के नाटक 'टेम्पेस्ट' के कथानक की छाया होने के कारण उसे हिन्दी की प्रथम कहानी नहीं मानी जा सकती है। सन् 1968 में श्री देवी प्रसाद वर्मा ने माधव राव सप्रे द्वारा रचित कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' (1901) के पक्ष में मत रखा है। परंतु यह भी आधुनिक ढ़ंग की नहीं है। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी मानी जा सकती है। उपर्युक्त सभी हिन्दी की प्रारंभिक कहानी है। कथा-शिल्प की दृष्टि से इनमें अपरिपक्वता मौजूद है। रूप की दृष्टि से ये सीधी-सादी वर्णनात्मक कहानियाँ हैं। 'ढुलाई बाई' का अंत थोड़ा नाटकीय अवश्य है परन्तु ये कहानियाँ शैशवावस्था को ही दर्शाती है। प्रसाद और प्रेमचन्द एक ही युग के रचनाकार होते हुए भी अपनी प्रेरणा, भावना, रचनादृष्टि के ध रातल पर एक-दूसरे से काफी भिन्न थे। यहाँ भिन्नता को परस्पर विरोधी न मानकर परस्पर पूरक और सहयोगी कथा-धाराएँ मानना चाहिए। आगे भी इसी पथ पर अनेक कहानीकार सक्रिय रहे तथा अपना-अपना रचनात्मक योगदान दिया।

प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानी

'नई कहानी' आंदोलन के समानांतर इस काल (1950-60) में आंचलिक कहानी का विशेष आंदोलन उभरकर सामने आया। आगे नयी कहानी की आत्मपरकता और रूपवादी प्रकृति के विरोध में 'सचेतन कहानी' (1960-65 ई०) की धारा चली। इस कहानी-धारा के प्रवर्त्तक 'महीप सिंह' हैं। सन् 1972 में कमलेश्वर ने समानांतर कहानी-आंदोलन की नींव डाली। सन् 1979 में राकेश वत्स ने अपनी पत्रिका मंच-79 के द्वारा 'सक्रिय कहानी' का आंदोलन खड़ा किया, जिसमें चित्र मुद्गल, रमेश बतरा, स्वदेश दीपक आदि ने प्रबल योग दिया। सन् 1982 में दिल्ली में जनवादी लेखक संघ की स्थापना एवं उसके राष्ट्रीय अधिवेशन के साथ ही हिन्दी में जनवादी लेखन को काफी प्रोत्साहन मिला। जनवादी कहानी अपनी मूल प्रकृति में सामान्य जन के संघर्ष का हिमायती है। समकालीन हिन्दी कहानी से अभिप्राय उस कहानी से है जो आज की परिस्थितियों का साक्षात्कार करती है और

बिना किसी पूर्वाग्रह के काल-सत्य को ईमानदारी के साथ चित्रित करती है। समकालीन कहानी कोई आंदोलन नहीं होकर, बल्कि वह स्वातंत्र्य रीति से साहित्य-साधना को प्रश्रय देती है। सृंजय, उदयप्रकाश, राजी सेठ, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, निरूपमा सोवती, चित्रा मुद्गल, अब्दुल विस्मिल्लाह, प्रभा खेतान, मदन मोहन, शिवमूर्ति आदि समकालीन हिन्दी कहानी-धारा के प्रमुख हस्ताक्षर हैं।

सन्दर्भ

1. हिन्दी साहित्य: बदलते प्रतिमान, डॉ० आर. एन. वार्स्नेय
2. हिन्दी कहानी: पहचान और परख, इन्द्रनाथ मदान
3. हिन्दी कहानी: दो दशक की यात्रा, डॉ० रामदरश मिश्र

'चंद्रगुप्त' में वर्णित प्रसाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना

संजीव शर्मा

शोधार्थी, पीएच०डी०, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

अपने अधिकांश नाटकों का कथानक इतिहास से लेने के बाद भी प्रसाद, वर्तमान से जुड़ते हुए; भविष्य में विलीन हो जाते हैं। वे अपने नाटकों में 'मुक्ति' के स्वर को प्रमुखता प्रदान करते हैं। यह 'मुक्ति' भारत और भारतीयों की मुक्ति मात्र न होकर, संपूर्ण मानव-जाति की मुक्ति है। अपनी 'मुक्ति' की इसी विशिष्ट अवधारणा के कारण प्रसाद अपने नाटकों की 'रेंज' में देश प्रेम, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक गौरव-गाथा को प्रमुख स्थान प्रदान करते हैं। प्रो. रमेश गौतम के शब्दों में कहें तो ''प्रसाद की 'एप्रोच' शुद्ध भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की रही।''[1]

प्रसाद ने जहाँ भी 'इतिहास' का प्रयोग किया, वहाँ वह रचना भारतीयों में साहस-वीरता-गौरव की भावना भरकर, पराधीनता से मुक्ति का माध्यम बनी। प्रसाद ने अपने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना को 'इतिहास' के आवरण में व्यक्त करने के कारण को स्पष्ट करते हुए कहा- ''इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यंत लाभदायक होता है, क्योकि हमारी गिरी हुई दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें हमें पूर्ण संदेह है। मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के उन महत्वपूर्ण घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की हैं। जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।''[2] भारतीयों को शारीरिक के साथ-साथ मानसिक तौर पर भी गुलाम बनाने के लिए भारतीय इतिहास, सभ्यता और संस्कृति को पाश्चात्य विद्वानों ने किस प्रकार विद्रूपित किया; यह पूर्व प्रकरण में हम देख चुके हैं।

प्रसाद ने अपने नाटकों द्वारा भारतीयों में भारतीय सभ्यता-संस्कृति के प्रति गर्व की भावना जगाने का प्रयास किया। अंग्रेज बार-बार कहते थे- भारत न एक राष्ट्र था, न है, ना ही भविष्य में होगा। 'चंद्रगुप्त' नाटक के माध्यम से प्रसाद ने अंगेजों की इस कुटनीति का विरोध कर 'संपूर्ण आर्यावर्त' को हमारे सामने रखा और हमें यह संदेश देने का प्रयास किया- भारत शुरू से एक राष्ट्र था, है और रहेगा। भारत की जिस विविधता को अंग्रेज सबसे बड़ी कमजोरी मानते थे, प्रसाद के लिए 'अपनी विभिन्नता में एकता' ही तो भारतीयों की सबसे बड़ी सांस्कृतिक विरासत है।

प्रसाद के समय का भारत पराधीन था परंतु प्रसाद ने 'चंद्रगुप्त' द्वारा यह अच्छी तरह दर्शाया कि प्राचीन काल से ही भारतीयों को अत्याचारी शासक को दंड देना अच्छी तरह आता हैं। आलोच्य नाटक में 'चाणक्य' नंद को उसके अत्याचारों के बारे में बताता है, तब जनता के पास सुनने का भी समय नहीं था। जनता अत्याचारी राजा नंद को जल्द से जल्द खत्म कर देना चाहती है -

''**नागरिक :** (बीच में रोककर हल्ला मचाते हुए)- पर्याप्त है। यह पिशाच लीला और सुनने की आवश्यकता नहीं, सब प्रमाण यहीं उपस्थित हैं।

चंद्रगुप्त : ठहरिये - (नंद से) कुछ उत्तर देना चाहते हो।

नंद : कुछ नहीं। (वध करो, हत्या करो का आंतक फैलता है।)''[3]

अपने युग की कुंठित जनता को प्रेरित करने के लिए प्रसाद ने उन्हें दिखलाया- भारत वह भूमि है। जिसका गुणगान विदेशी तक करते थे। 'कार्नेलिया' द्वारा भारत के प्रति श्रद्धा भाव दर्शाते हुए 'अरुण वह मधुमय देश हमारा' गीत गवाना, यह कहलाना 'अन्य देश तो मानव की जन्मभूमि है भारत मानवता की जन्मभूमि है'; का यही आशय था। भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक गुणों से प्रभावित होकर सिंकदर जैसा योद्धा भी नतमस्तक होते हुए कहता है - ''धन्य है आप। मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ।''[4] इस प्रकार सांस्कृतिक अस्मिता की समस्या से जूझ रहे भारतीयों को प्रसाद ने नवीन गौरव बोध प्रदान करने का प्रयत्न किया। सांस्कृतिक गौरव बोध के साथ-साथ भारतीयों को राष्ट्रीय स्वंतत्रता हेतु अपना सर्वस्व त्याग करने को प्रेरित करना आवश्यक था। प्रसाद ने 'चंद्रगुप्त' नाटक में मालविका, अलका, चाणक्य, सिंहरण, चंद्रगुप्त जैसे आदर्श पात्रों की रचना इसी उद्देश्य से किया था। मालविका तो राष्ट्र-हित में अपने प्राणों का बलिदान हँसते-हँसते कर देती है।

अनेक लोगों की मान्यता है कि भारतीयों का सिद्धांत पूर्णत: अहिंसावादी है। प्रसाद ने उन लोगों के इस भ्रम को सिंहरण, चाणक्य के माध्यम से तोड़कर दिखलाया कि भारतीय आवश्यकतानुसार हिंसा का मार्ग प्राचीनकाल से ही प्रयोग करते रहे हैं-

"सिंहरण : आर्य, मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अस्त्रशास्त्र की।''[5]

''चाणक्य : एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध सिर पर मँडराने वाली विपत्तियों से रक्त-समुद्र की आँधियों से आर्यावर्त्त की रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित होंगे।''[6]

''चाणक्य : अब केवल पाणिनि से काम न चलेगा अर्थशास्त्र और दंड-नीति की आवश्यकता है।''[7]

''चाणक्य : मेरे पास पाणिनि में सिर खपाने का समय नहीं। भाषा ठीक करने से पहले मैं मनुष्यों को ठीक करना चाहता हूँ, समझे।''[8]

उपरोक्त कथनों के आलोक में हम कह सकते हैं कि प्रसाद आवश्यकतानुसार 'हिंसा' के प्रयोग का भी समर्थन करते हैं।

'चंद्रगुप्त' नाटक में प्रसाद ने 'अलका और मालविका' के चरित्रों द्वारा भारतीय नारियों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने को प्रेरित किया हैं। अलका द्वारा प्रसाद भारतीयों को विशुद्ध 'कर्म' का संदेश देकर, क्रांति का पथ दिखलाते हैं -

''हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्जवला स्वतंत्रता पुकारती
अमर्त्य वीरपुत्र हो दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है - बढ़े चलो, बढ़े चलो।
असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के रूकों न शूर साहसी
अराति सैन्य सिंधु में - सुवाड़वाग्नि से जलो।
प्रवीर हो जयी बनो, बढ़े चलो, बढ़े चलो।''[9]

'चंद्रगुप्त' के रचनाकाल (1931) का भारत सर्वत्र पराधीनता की बेड़ियाँ काटने को उद्धत था। विवेच्य नाटक में भारतीयों की इस मन:स्थिति को 'अलका' व्यक्त करते हुए कहती है - ''पराधीनता से बढ़कर विडंबना और क्या है?''[10] इसके पूर्व जवाहरलाल नेहरु 'पूर्ण स्वराज्य' की माँग कर चुके

थे। प्रसाद ने नेहरु के स्वर में स्वर मिलाते हुए 'चंद्रगुप्त' द्वारा भारतीयों की स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र ही घोषित करवा दिया - ''प्रत्येक निरपराध आर्य स्वतंत्र है, उसे कोई बंदी नहीं बना सकता।''[11] प्रसाद मात्र भारतीयों की स्वतंत्रता की ही बात नहीं करते। 'चाणक्य' द्वारा संपूर्ण मानव-जाति की स्वतंत्रता की स्पष्ट घोषणा करवाते हुए कहते हैं - ''स्मरण रखना होगा कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को स्वतंत्र उत्पन्न किया है, परंतु व्यक्तिगत स्वतंत्रता वहीं तक दी जा सकती है, जहाँ दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा ना पड़े।''[12]

पूर्वोक्त उद्धरण में 'दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा ना पड़े' की बात करके प्रसाद ने इतिहास को कालातीत करते हुए, एक ही वाक्य में तीनों कालों को समन्वित कर दिया। वहीं दूसरी ओर 'ब्रिटेन' के उस दोगलेपन को दर्शाया, जिसके अनुसार अंग्रेज स्वयं तो अपने देश में स्वतंत्रता के बड़े-बड़े दावे करते थे, हकीकत में संपूर्ण विश्व को परतंत्र बनाने के बहाने ढूँढ़ते रहते थे।

भारत की संपूर्ण स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों के साथ-साथ देशी राजाओं से भी मुक्ति आवश्यक थी। 'नंद' को मारकर प्रसाद ने, जनता को इन विलासी देशी राजाओं से मुक्ति का मार्ग दर्शाया है। साथ ही साथ 'मुक्ति' का साधन भी प्रसाद ने दिखलाया है। किसी भी आंदोलन की सफलता हेतु एक योग्य तथा कुशल नेतृत्व की परिकल्पना 'चाणक्य' के रूप में जनता के समक्ष प्रसाद ने प्रस्तुत किया था। अंग्रेजों की 'फूट डालो, राज करो' के कारण भारतीयों में बढ़ते अलगाववाद की भावना को उन्होंने 'राष्ट्र-मुक्ति' के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा माना। अंग्रेजों एवं उनके देशी राजवाड़ों ने इस अलगाववादी नीति का लाभ उठाकर किस प्रकार हिंदु-मुसलमान का शोषण किया, यह प्रसाद ने अच्छी तरह देखा था। 'चंद्रगुप्त' नाटक में 'हिंदू-बौद्ध' के संघर्ष के द्वारा नंद की इस चाल को पहचाना और 'दूसरे ब्राह्मण' द्वारा इसका सजीव चित्रण करवाया- ''महापद्म का जारज-पुत्र नंद केवल शस्त्र-बल और कूटनीति के द्वारा सदाचारों के सिर पर तांडव-नृत्य कर रहा है वह सिद्धांत विहीन, नृशंस, कभी बौद्ध का पक्षपाती कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर दोनों में भेद-नीति चलाकर बल-संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचायी जा रही है।''[13] क्या अंग्रेजों ने भी हिंदु-मुसलमान को ऐसे ही धर्म के नाम पर मूर्ख बनाकर नहीं नचाया था? इसी नाटक में प्रसाद ने यह भी दर्शाया है कि शोषकों-अत्याचारियों का कोई एक धर्म विशेष नहीं होता। अपने शोषण-चक्र में शोषक किसी को धर्म के नाम पर रियायत नहीं देता - ''चाणक्य: सच है बौद्ध अमात्य, परंतु यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रखेंगे।''[14]

अंग्रेजों ने भारतीयों के मध्य 'अलगाववादी' भावना को धर्म के साथ-साथ रंग, नस्ल, भाषा, जाति, प्रांत हर स्तर पर व्याप्त कर दिया था। भारत को एक राष्ट्र न मानने के पीछे अंग्रेजों की यही मंशा थी। प्रसाद का 'चाणक्य' इस समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट करवाकर, इसका समाधान भी बतलाता है- ''तुम मालव हो और यह मागध, यहीं तुम्हारे मान का अवसान है न? परंतु आत्म-सम्मान इतने से ही संतुष्ट नहीं होगा। मालव और मगध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा।''[15] प्रसाद के लिए भारत के किसी एक भाग का कष्ट, संपूर्ण भारत का कष्ट था। 'सिंहरण' 'गांधार' की दुरावस्था पर प्रसाद की 'राष्ट्रीयता' की इसी भावना को व्यक्त करते हुए कहता है- ''गांधार आर्यावर्त्त से भिन्न नहीं है, इसलिए उसके पतन को मैं अपना अपमान समझता हूँ।''[16]

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रसाद भारत की तत्कालीन दुरावस्था को प्राचीन भारतीय गौरवपूर्ण इतिहास के चित्रण द्वारा दूर करना चाहते थे। वे इतिहास को चेतना का अविच्छिन्न प्रवाह मानते थे। उनकी इतिहास दृष्टि में दर्शन का भी महत्वपूर्ण स्थान था।

भारतीय इतिहास की कमी को पूरा करने के लिए उन्होंने अपने तौर पर इतिहासान्वेषण का भी प्रयास किया। अपनी इतिहास चेतना का मुख्य लक्ष्य भारतीय राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण को बनाकर भारतीयों को कुंठा से निकालकर, उनमें भारत के प्रति गर्व की भावना भरने का प्रयास किया। प्रसाद इतिहास को भविष्य की घटनाओं की पुनरावृत्ति मानते हुए भी, भविष्य में नयी घटनाओं के घटित होने की आशा रखते थे। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय इतिहास को विद्रुप होने से बचाने के लिए उन्होंने भारतीय इतिहास की खोज कर उसका वर्तमान से संवाद स्थापित करने का प्रयास किया। काल की अखंड अनुभूति एवं शाश्वत चेतना को इतिहास का मूल समझने के कारण प्रसाद ने इतिहास को मानव जीवन से संयुक्त करके प्राणवान बनाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार कोरी भौतिक घटनाएँ मानव जीवन की दृष्टि से एकांगी है। मानव-जीवन को मुख्य मानते हुए प्रसाद ने दर्शन को उसकी अंत: प्रेरणा तथा इतिहास को बाह्य विकास माना है। प्रसाद की दृष्टि में इतिहास को सजीवता प्राप्त करने के लिए दर्शन के साथ-साथ राष्ट्रीय संस्कृति को अविच्छिन्न अंग बनाना होगा। तात्पर्य यह कि दर्शन, जीवन, इतिहास, संस्कृति और राष्ट्रीयता सभी मिलकर वास्तविक इतिहास की सृष्टि करते हैं।

संदर्भ ग्रन्थसूची

1. रंगानुभव के बहुरंग : प्रो. रमेश गौतम, पृष्ठ-65
2. विशाख : जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ-5
3. चंद्रगुप्त : जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ-127
4. वही, पृष्ठ-111
5. वही, पृष्ठ-39
6. वही, पृष्ठ-53
7. वही, पृष्ठ-60
8. वही, पृष्ठ-61
9. वही, पृष्ठ-143-144
10. वही, पृष्ठ-95
11. वही, पृष्ठ-41
12. वही, पृष्ठ-128
13. वही, पृष्ठ-51
14. वही, पृष्ठ-54
15. वही, पृष्ठ-42
16. वही, पृष्ठ-43

अष्टांग योग

डॉ० सुनिल कुमार तिवारी

एम.ए., पीएच.डी., मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

भारतीय दर्शन छः प्रकार की विचारधारा है। सांख्य योग (कपिल पतंजलि मुनि रचित है न्याय वैशषिक दर्शन के पुरष्कर्ता कणाद जैमिनी ऋषि है। पूर्व मिमांसा उत्तर मिमांसा के पुरष्कर्ता कुमारिल भट्ट है। षट् विचारधारा अपने आपसे महत्वपूर्ण है परंतु योगदर्शन अधिक महत्वपूर्ण इसलिए है कि वह हिन्दुजीवन की जीवनशैली पद्धति से सीधा संबंधित है और अधिक व्यावहाकिर एवम् उपयोगी है।

योग शब्द संस्कृत में युज् धातु से बना है जिसका अर्थ जोड़ना होता है, आत्मा-परमात्मा का मिलन, जीवात्मा का शिवात्मा से जोड़ना आदि अर्थ इससे अभिप्रेत है।

पतंजलि मुनि ने योग के आठ अंग बताये हैं। पतंजलि योगसूत्र जीवन जीने की कला सिखाता है। साधन पाद-2.11 सूत्र में अष्टांग योग का उल्लेख मिलता है।

यमन्यिमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।।29।।

(संदर्भ-1 पतंजलि योगदर्शन)

अर्थात् यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योग के अंग है।

अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रह यमाः।।30।। (संदर्भ- पतंजलि योगदर्शन)

इस सूत्र में सूत्रकार पतंजलि ने पांच यम बताये हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम है।

शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः। (संदर्भ-3 पतंजलि योगदर्शन)

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति- ये पांच नियम है।

अहिंसा

अहिंसा का अर्थ हिंसा न करने, अपने स्वार्थ के लिये, अपने उपयोग के लिये, अपने आनंद के लिये, किसी को भी हानि नहीं करना, किसी को मारना, किसी की हत्या करना ही हिंसा नहीं है, किसी का मन से बुरा चाहना भी हिंसा है। द्वेष भाव भी हिंसा है, मानहानि करना भी हिंसा है। अहिंसा का अर्थ एवं भाव बहुत विशाल है। मन में किसी के प्रति नफरत या बैर का भाव न होना, सब प्राणी के प्रति सद्भावना रखना भी अहिंसा है। भगवान पतंजलि कहते हैं कि अपने मन में अहिंसा का भाव दृढ़ होने से परस्पर बैर रखने वाले प्राणी भी बैर भावना छोड़ देते हैं। इसलिए महावीर स्वामी ने भी कहा है ''अहिंसा परमो धर्मः''।

सत्य

सत्य को साक्षात् ईश्वर माना गया है। जो भाव मन में है वैसा ही वाणी रखना और ऐसा ही आचरण करना सत्य के पालन से द्वेष, ईर्ष्या, कपट-अप्रमाणिकता जैसे दोष भी दूर रहते हैं क्योंकि इन सब में असत्य भाषण करना पड़ता है।

मन में किसी को मारने की, गाली देने की इच्छा आदि आचरण करना असत्य है। सत्य का आधार एवम् मूल अहिंसा है।

मन में द्वेष रखना और मुख से मधुर भाषण करना भी असत्य है।

सत्य से वाणी प्रभावी बनती है, आशीर्वाद और शाप का असर होता है, इसलिए सत्य भाषण का बड़ा ही प्रभाव होता है।

अस्तेय

दूसरे के स्वत्व का अपहरण करना, छल से या अन्य किसी उपाय से अन्याय पूर्वक उसे अपना बना लेना चोरी है। इसमें सरकारी टेक्स या चोरी और घुसखोरी भी शामिल है। इन सब प्रकार की चोरियों के अभाव का नाम अस्तेय है। अपने बिना हक की वस्तु अपने पास रखना भी चोरी है। इन सब प्रकार की चोरियों के अभाव का नाम अस्तेय है।

अस्तेय मनुष्य को संयमित बनाता है।

ब्रह्मचर्य

गरूड़ पूर्व आचार 237/6 में कहा गया है- ".....कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा सर्वत्र मैथुन त्यागी ब्रह्मचर्य प्रयक्षते"।।

मन वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों को सब अवस्थाओं में सदा त्याग करके, सब प्रकार से वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है। अत: साधक को चाहिये कि न तो कामदीपन करने वाले पदार्थों का सेवन करे, न ऐसे दृश्यों को देखे, न ऐसी बातों को सुने, न ऐसे साहित्य को पढ़े और न ऐसे विचारों को ही मन में लावे। स्त्रियों का और स्त्री से आसक्त पुरूषों का संग भी ब्रह्मचर्य में बाधक है। अत: ऐसे संग से सदा सावधानी के साथ अलग रहे।

दूसरे अर्थ में लिया जाये तो ब्रह्मचर्य आत्म संयम का दूसरा नाम है। आत्मसंयमी मनुष्य आध्यात्मिक प्रगति करते हैं।

अपरिग्रह

अपने स्वार्थ के लिये ममतापूर्वक धन, संपत्ति और भोग सामग्री का संचय करना परिग्रह है और इसके अभाव का नाम अपरिग्रह है।

अपनी आवश्यकताओं को न्यून कर सादगीपूर्ण जीवनचर्या का पालन करना अपरिग्रह है। अपने जीवन में वस्तुओं का मोह न रखना अपरिग्रह का मूलमंत्र है। अपरिग्रहधारी मनुष्य कभी दरिद्र नहीं होता। अकिंचन होने पर भी समृद्ध होता है। अपरिग्रह ऐसा गुण है जो मनुष्य को नीतिमान एवं प्रामाणिक बनाता है।

यह पांच यम महाव्रत है जो सार्वभौम है। देश-स्थान-काल की सीमा से परे है। उसका पालन मनुष्य के लिये उन्नति कारक है।

नियम भी पांच है।

शौच: शौच यानि पवित्रता शुद्धि, स्वच्छता। हरिप्रसाद गोयंका लिखते हैं कि जल मृत्तिकादि के द्वारा शरीर, वस्त्र और मकान आदि के मल को दूर करना बाहरी शुद्धि है। इसके सिवा अपने वर्णाश्रम और योग्यता के अनुसार न्यायपूर्वक धन को, शरीर निर्वाह के लिये आवश्यक अन्न आदि पवित्र वस्तुओं को प्राप्त करके उनके द्वारा शास्त्रानुकुल शुद्ध भोजनादि करना तथा सबके साथ यथायोग्य पवित्र बर्ताव करना– यह भी बाहरी शुद्धि के ही अन्तर्गत है। जप तप और शुद्ध विचारों के द्वारा एवं

मैत्री आदि की भावना से अन्त:करण के राग द्वेषादि मलों का नाश करना भीतर की पवित्रता है। (पतंजलि योगदर्शन- संदर्भ- 5)

संतोष: संतोष श्रेष्ठ गुण है। कर्तव्य पालन करते हुए जो भी प्रारब्ध के अनुसार मिले, उसमें संतुष्ट रहना संतोष है। असंतोष मनुष्य को अस्वस्थ कर देता है। अनीति अप्रमाणिकता की ओर ले जाता है। 'संतोषी नर सदा सुखी' यह कहावत सार्थक है। साधना मार्ग में संतोष व्यवधान डालते हैं।

तप: उदात्त लक्ष्य के लिये कठोर परिश्रम करना तप है। कष्ट को सहना प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना तप है। तप अग्नि के समान है– तप से मन की अशुद्धि जल जाती है। जिस प्रकार सोना अग्नि में तप कर शुद्ध होता है, उसी तरह मनुष्य भी तप से शुद्ध एवं पवित्र होता है। बिना तप के इष्ट की प्राप्ति नहीं होती।

स्वाध्याय: 'स्वेन अधीयते इति स्वाध्याय:' अर्थात् स्व-अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। प्राप्त ज्ञान का चिंतन-मनन करना, ज्ञान को आत्मसात करना आदि योग के साधकों के लिये जितना आवश्यक है, उतना ही लक्ष्य प्राप्ति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्वाध्याय आवश्यक है।

स्वाध्याय का दूसरा अर्थ स्व का अध्ययन करना होता है अर्थात् स्व मूल्यांकन, आत्मनिरीक्षण, आत्म परीक्षण आदि। स्वाध्याय से बुद्धि स्पष्ट और निर्मल होती हैं।

ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान यानि ईश्वर प्रति दृढ़ श्रद्धा। ईश्वर कहता है कि हम तो केवल निर्मित हैं। सुख और दु:ख दोनों को ईश्वर का प्रसाद समझकर सहर्ष स्वीकार करना ईश्वर प्रणिधान परमात्मा प्राप्ति का सरल मार्ग है। यम-नियम योगाभ्यास के लिये नींव के पत्थर के समान है। वह ऐसा सद्गुण है जो मनुष्य को देवत्व, शिवत्व प्राप्त कराते हैं। बिना सद्गुण से अगर योग से सिद्धि प्राप्त हो भी गई तो मनुष्य उसका उपयोग ध्वंस के लिये ही करेगा। यम-नियम मनुष्य को सज्जन बनाता है और सज्जन के पास जो शक्ति होती है, वह समाज के हित में ही होती है।

आसन

योग का तीसरा अंग है आसन।

आसन से शरीर स्वस्थ, सुदृढ़ एवं संतुलित होता है। एक स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का वास होता है। इसलिये आसन से मन भी स्थिर, एकाग्र शांत रहता है- 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। योग का प्रथम सोपान है शरीर को स्वस्थ रखना, जो आसन से प्राप्त होता है।

प्राणायाम

प्राण के आयाम को प्राणायाम कहते हैं। प्राण को सुव्यवस्थित, सुनियंत्रित करना ही प्राणायाम है। प्राण जीवन शक्ति है। प्राण जितना बलवान होता है, जीवनशक्ति उतनी ही प्रबल होती है। ये प्राण प्राणायाम से बलवान होता है। प्राणायाम से नाड़ी शुद्धि, रक्त शुद्धि होती है। बुद्धि विकसित होती है। अज्ञान-जनित अंधकार का नाश होता है। ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त होता है।

प्रत्याहार

हमारी ज्ञानेन्द्रियां बाह्य जगत् के संपर्क में होती है। श्रोत्र, नेत्र, जिह्वा, त्वचा, नासिका बाह्य जगत् के संपर्क में होता है। इन्द्रियाँ विषयों में लीन रहती है। इन्द्रियों को विषयों से खिचना-जिहवा

स्वाद का अनुभव करती है, परंतु मन को इस स्वाद से अलिप्त रखने का नाम ही प्रत्याहार है। इन्द्रियों का विषय वे साथ जो संपर्क है वह मन के पास न आये, उसको ही प्रत्याहार कहा गया है। प्रत्याहार से मन का अंतर्जगत् के साथ संपर्क प्रारंभ होता है।

धारणा

योगशिक्षा में कहा है- "इन्द्रियां प्रत्याहार से अंतर्मुखी होते जाने से मन का भटकना बंद हो जायेगा। इसलिये मन पसंद के विषय पर एकाग्र हो जाता है। इसे ही धारणा कहते है।" (संदर्भ-6) मानसिक शक्ति का विकास होता है, एकाग्रता प्राप्त होती है।

ध्यान

परिपक्व धारणा को ही ध्यान कहते हैं। साधक की उच्चतम दशा है। ध्यान सहज होता है।

समाधि

समाधि परमात्मा का साक्षात्कार होता है। ध्यान और समाधि अनुभव के विषय हैं। इसमें शिव-जीव का एकात्म होता है। साधक की आध्यात्मिक उच्चतम सिद्धि ही समाधि है।

सामान्य मनुष्य और आध्यात्मिक के पथिक दोनों के लिए अष्टांग योग जीवन जीने की संजीवनी है। महर्षि पतंजलि कृत योगसूत्र में वे अष्टांग योग प्राण होता है। मनुष्य मुक्ति प्राप्त करके परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

संदर्भ-ग्रंथ

1. महर्षि पतंजलिकृत, योग दर्शन पृ.53
2. महर्षि पतंजलिकृत, योग दर्शन पृ.55
3. महर्षि पतंजलिकृत, योग दर्शन पृ.55
4. गरूड पूर्व आचार, (237/6) पृ. 60
5. योगदर्शन हिन्दी व्याख्यासहित, पृ. 6
6. योग शिक्षा, पृ. 30।

दायभाग में स्त्रीधन स्वरूप

सुचिता यादव

एम्०फिल्०, शोधच्छात्रा,
विशिष्टसंस्कृताध्ययनकेन्द्र, जवाहरलालनेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रस्तुत पत्र में दायविभाग के अन्तर्गत स्त्रीधन के स्वरूप विषय को आधार बनाकर विवेचनात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है जो आज की एक ज्वलन्त समस्या के रूप में समाज में चारों तरफ गंभीर बीमारी के रूप में तेजी से फैल रहा है। प्रस्तुत पत्र के विषय के माध्यम से यह प्रदर्शित किया जा रहा है कि स्त्रियों को प्राचीनकाल से ही एक अभिन्न दर्जा प्रदान किया गया है जिसमें उसे सभी प्रकार के अधिकार प्रदान किये गये थे जिसमें शैक्षिक, सामाजिक, सांस्कृति, धार्मिक अधिकारों के साथ-साथ सबसे महत्वपूर्ण अधिकार सम्पत्ति का अधिकार प्रदान किया गया था जिससे स्त्रियां स्वावलंबी बन चुकी थी और उन्हीं अधिकारों को वर्तमान समय में उच्च तथा उच्चतम न्यायालय तथा संविधान द्वारा भी मान्यता प्रदान की गई है। अतः उन्हीं प्राचीनकाल तथा आधुनिककाल के स्त्रियों के स्त्री धन के स्वरूप का निबन्धन प्रस्तुत पत्र के माध्यम से किया जा रहा है।

धर्मशास्त्र के अन्तर्गत तीन प्रकार के विषयवस्तु का वर्णन प्राप्त होता है-

1. आचाराध्याय
2. व्यवहाराध्याय
3. प्रायश्चिताध्याय

इसमें व्यवहाराध्याय में व्यवहार सम्बंधी विषयों का विवेचन प्राप्त होता है। व्यवहार का अर्थ है जो अनेक संदेहों को हटाता है या दूर करता है। कात्यायन ने कहा है-

विनानार्थैऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते।
नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः।।[1]

यह व्युत्पत्यर्थ न्याय शासन या न्याय विधि की ओर संकेत करता है। इसके अतिरिक्त व्यवहार झगड़े या मुकदमे या विवाद को कहते हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य विवाद को लॉ-सूट कहते हैं और व्यवहार को जुडिशियल प्रोसीड्योर कहते हैं। 'व्यवहारः तस्य पदं विषयः' अर्थात् व्यवहार के विषय को व्यवहारपद कहते हैं। सर्वप्रथम मनु ने अठारह तथा याज्ञवल्क्य ने बीस व्यवहारपदों को गिनाया है जो इस प्रकार हैं- ऋणादान, निक्षेप, अस्वामिविक्रय, सन्भूय-समुत्थान, दत्तस्यान्पाद, वेतनादान, संविद्-व्यतिक्रम, क्रय-विक्रयानशय, स्वामिपालविवाद, सीमाविवाद, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, स्तेद्य, साहस, स्त्रीसंग्रहण, स्त्रीपुंधर्म, दायविभाग और द्यूतसमाहव्य।

इन्हीं विवादों में दायभाग एक प्रकार का विवाद है जिसका विवेचन इस प्रकार है-

मिताक्षरा के याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार दाय का अर्थ वह धन है जो उसके स्वामी के संबंध में किसी अन्य की सम्पत्ति हो जाती है- 'दायशब्देन यद्धनं स्वामी सम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते।'[2] नारद ने दायभाग उसको कहा है जिसमें पुत्र अपने पिता के धन के विभाजन का प्रबन्ध करते हैं-

विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य पुत्रैर्यत्र प्रकल्पते।
दायभाग इति प्रोक्तं तद्विवादपदं बुधैः।।[3]

याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा के टीकाकार के अनुसार धन के मूल स्वामी के साथ रक्त संबंध के कारण स्वामी के धन पर संबंधी के अधिकार हो जाने का नाम 'दाय' है। इसके दो रूप हैं- अप्रतिबन्ध तथा सप्रतिबन्ध। दादा का पोते को तथा पिता का पुत्र को मिलने वाला धन अप्रतिबन्ध है। इसके विपरीत चाचा तथा भाई आदि के पुत्र के संबंध में भावी स्वामी के न होने पर, दूसरों को मिलने वाला धन सप्रतिबन्ध है। विभाग वह है जहाँ संयुक्त स्वामित्व हो वहाँ सम्पूर्ण सम्पत्ति के भागों की निश्चित व्यवस्था की जाती है-

'विभागो नाम द्रव्यसमुदाय विषयाणानेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्।'[4]

दायभाग के चार प्रमुख विषय होते हैं- विभाजनकाल, विभाजनसम्पत्ति, विभाजनविधि और विभाजन अधिकार।

दायभाग में स्त्रीधन अथवा स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार

दायभाग के अन्तर्गत स्त्रीधन विषय पर विवेचन किया गया है। प्राचीनकाल में पितृसत्तात्मक पारिवारिक संगठन में पुरुष सदस्य ही परिवार का मुखिया एवं सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी माना जाता था। इस काल में स्त्री को साम्पत्तिक अधिकारों से वंचित रखा गया। ऐसी स्थिति में स्त्री के साम्पत्तिक अधिकार का प्रारंभ कैसे हुआ? इस विषय में कोई ठोस तथ्य दृष्टिगत नहीं होता। संभवत: इसका प्रारंभ विवाह के समय पुत्री को दहेज में उपहारस्वरूप दिये जाने वाले आभूषण तथा वस्त्र तथा गृहस्थी के अन्य उपकरणों से हुआ। जैसे-जैसे समाज में परिवर्तन होता गया, समाज में स्त्री के साम्पत्तिक अधिकारों का विकास होने लगा। इस प्रकार स्त्री धन से तात्पर्य स्त्री के सम्पत्ति से है।

वैदिक साहित्य में स्त्री धन संबंधी अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में विवाह के अवसर पर पतिगृह जाते समय वधू को उपहार देने का उल्लेख प्राप्त होता है। अथर्ववेद में विवाह के अवसर पर परिधान, स्वर्ण, आभूषण आदि कन्या को देने का स्पष्ट वर्णन है।

तैत्तिरीयसंहिता में पत्नी को घर का स्वामिनी कहा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य का संन्यास लेने से पूर्व अपनी दोनों पत्नियों मैत्रेयी एवं कात्यायनी के बीच सम्पत्ति का विभाजन करने संबंधी उल्लेख मिलता है।

इन उल्लेखों से कहा जा सकता है कि स्त्रियां साम्पत्तिक स्वत्व की अधिकारिणी होती थी तथा उनको विशेष अवसरों पर उपहारादि भी दिए जाते थे। तथापि स्त्री के उस अधिकार की क्या सीमाएं थी, इसका स्पष्टीकरण प्राप्त संदर्भों से नहीं होता है।

उत्तरवर्ती सूत्रकाल में धर्मसूत्रकार गौतम ने स्त्री की निजी सम्पत्ति का उल्लेख नहीं किया है पर स्त्रीधन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में पुत्री को उत्तराधिकारिणी स्वीकार किया गया है।

बौधायन संभवत: स्त्री को माता से मिले धन को अथवा अन्य वस्तु को जो उसे उपहार में मिली हो, उसे स्त्रीधन स्वीकार करता है-

मातुरलङ्कारं दुहितरस्साम्प्रदायिकं लभेरन्नयद्वा।[5]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सर्वप्रथम स्त्रीधन की स्पष्ट व्याख्या की है। उनके अनुसार स्त्रीधन दो प्रकार के हैं- वृत्ति तथा आबध्य। वृत्ति स्वरूप स्त्रीधन जीविका के लिए दी हुई भूमि अथवा धन है। यह कम से कम दो सहस्र पण हो सकता है। आबध्य रूप स्त्रीधन आभूषणादि हैं - 'वृत्तिराबध्यं वा स्त्रीधनम्। परिद्विसाहस्रा स्थाप्या वृत्ति:। आबध्यानियम:।'[6]

मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर के अनुसार स्त्रीधन शब्द यौगिक है, पारिभाषिक नहीं है-

स्त्रीधन शब्दश्च यौगिको न पारिभाषिकः।

योगसंभवे परिभाषाया आयुक्तत्वात्।।

'स्त्रिया धनं स्त्रीधनं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्त्री की सम्पूर्ण सम्पत्ति ही स्त्रीधन है। चाहे वह सम्पत्ति स्त्री को दाय में प्राप्त हुई हो या विभाजन के द्वारा या अन्य किसी प्रकार से।

दूसरी ओर दायभाग के रचयिता जीमूतवाहन के अनुसार स्त्रीधन शब्द पारिभाषिक है। इनके अनुसार वही स्त्रीधन है, जिसमें स्त्री का स्वत्व हो अर्थात् जिसे स्त्री को पति या अन्य किसी से पूछे बिना स्वेच्छानुसार दान, विक्रय एवम् उपभोग करने का अधिकार है।

स्मृतियों ने स्त्री धन के शाब्दिक अर्थ स्त्री की सम्पत्ति शब्दार्थ को उस प्रकार की सम्पत्ति के विशिष्ट प्रकार तक सीमित रखा है जो स्त्री को विशिष्ट अवसरों या जीवन के विभिन्न स्तरों पर प्राप्त होते हैं। याज्ञवल्क्य ने स्त्रीधन के लिए कहा है-

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्।

आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्।।

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च।।[7]

पिता, माता, पति या भाई द्वारा दिया गया धन, विवाह के समय अग्नि के समीप प्राप्त धन, तथा पति द्वारा अन्य स्त्री से विवाह के समय प्राप्त धन ये ही स्त्री धन कहे जाते हैं। पिता के बन्धुओं द्वारा दिया गया धन, परिणय के शुल्क के रूप में दिया गया धन, विवाह के बाद पति या पितृकुल से प्राप्त धन भी स्त्री धन कहलाता है।

स्त्रीधन के प्रकार

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार छः प्रकार के स्त्री धन का वर्णन किया गया है। मनुस्मृति में मनु ने भी छः प्रकार के स्त्रीधन की चर्चा की है-

1. *अध्यग्नि स्त्रीधन* - विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो धन दिया जाता है, वह अध्यग्नि स्त्रीधन कहलाता है।
2. *अध्यावाहनिक स्त्रीधन* - पति के घर जाते समय जो कुछ स्त्री पिता के घर से पाती है, वह अध्यावाहनिक स्त्रीधन कहलाता है।
3. *प्रीतिदत्त स्त्रीधन* - श्वसुर या सास के द्वारा जो कुछ स्नेह से दिया जाता है और श्रेष्ठजनों का वन्दन करते समय जो कुछ दिया जाता है, वह प्रीतिदत्त स्त्रीधन है।
4. *शुल्क स्त्रीधन* - जो बरतनों, भारवाही, पशुओं, दुधारु पशुओं, आभूषणों और दास-दासियों के रूप में प्राप्त होता है।
5. *अन्वाधेय स्त्रीधन* - विवाहोपरान्त पतिकुल या पितृकुल के बन्धुजनों से जो कुछ प्राप्त होता है उसे अन्वाधेय स्त्रीधन कहा जाता है।
6. *आधिवेदनिक स्त्रीधन* - पति द्वारा अन्य स्त्री से विवाह के समय जो कुछ प्राप्त होता है उसे आधिवेदनिक कहते हैं।

इनके अतिरिक्त सौदायिक स्त्री धन है जो विवाहित स्त्री को या कुमारी को अपने पिता या पति के घर से मिलता है या भाई से या माता-पिता से मिलता है-

अध्यग्न्यध्यावाहनिक दत्तं च प्रीतिकर्माणि।

भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्।।[8]

मनु ने अन्य दो प्रकार के स्त्रीधन भी बताये हैं- अन्वाधेय एवं यौतुकम्। अन्वाधेय से अभिप्राय विवाह के बाद मिलने वाला द्रव्य है। इसी प्रकार यौतुक से अभिप्राय विवाह के समय प्राप्त धन से है।

विवाहकाले लब्धं यौतुकम्।[9]

नारद के अनुसार-

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं भर्तृदायस्तथैव च।

भ्रातृदत्तं पितृभ्याश्च षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्।।[10]

नारद ने भी मनु की भांति ही छः प्रकार का स्त्रीधन कहा है किन्तु मनु के प्रीतिकर्म में दिए गए धन के स्थान पर भर्तृदाय (पति द्वारा दिया गया धन) का उल्लेख किया है।

कौटिल्य ने शुल्क, अन्वाधेय, आधिवेदनिक और बन्धुदत्त को स्त्रीधन के प्रकारों में स्वीकार किया है।

मिताक्षरा के मत से किसी प्रकार का धन स्त्रीधन कहा जा सकता है, चाहे वह स्त्री द्वारा किसी पुरुष की विधवा के रूप से उत्तराधिकार में प्राप्त हो या माता के रूप में प्राप्त हो या पत्नी के रूप में प्राप्त हो।

स्त्री धन पर स्त्री का आधिपत्य

स्त्री धन पर स्त्री का आधिपत्य तीन बातों पर निर्भर करता है। सम्पत्ति प्राप्त करने का उद्गम, प्राप्ति के समय उसकी स्थिति कि वह कुमारी है या सधवा है या विधवा है तथा वह सम्प्रदाय जिसके अनुसार उस पर स्मृति का शासन होता है।

सौदायिक धन के विनियोग के सम्बन्ध में कात्यायन ने स्त्री को पूर्ण स्वतन्त्रता दी है। यहाँ तक कि सौदायिक स्थावर सम्पत्ति के दान एवं विक्रय की पूर्ण स्वतंत्रता है। पति या पुत्र और पिता या भाई को किसी स्त्रीधन को व्यय करने का अधिकार नहीं है। कुछ परिस्थतियों में पति को सौदायुक स्त्री धन को व्यय करने का अधिकार है। याज्ञवल्क्य का कथन है-

दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके।

गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियौ दातुमर्हति।।[11]

दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि में तथा ऋणदाता, राजा या शत्रु द्वारा बन्दी बनाये जाने पर पति द्वारा यदि स्त्रीधन का व्यय किया जाय तो उसे लौटाने के लिए उसे बाध्य नहीं किया जा सकता है। कौटिल्य ने इस व्यवस्था को बढ़ाते हुए इतना जोड़ दिया है कि स्त्री अपनी जीविका के लिए या अपने पुत्र या पुत्रवधू की जीविका के लिए व्यय कर सकती है।

जीमूतवाहन ने स्त्रीधन के दो प्रकार की सम्पत्ति का उल्लेख किया है-

1. ऐसी सम्पत्ति जिसका उपयोग केवल स्त्री कर सकती है, किन्तु दान-विक्रयादि नहीं। इस प्रकार की सम्पत्ति में पति द्वारा प्रीतिपूर्वक दिए गए धन का समावेश है जिसमें जीमूतवाहन ने स्त्री को पति के धन में अमुक्तहस्त से उपभोग करने का अधिकार दिया है-

इदममुक्तहस्तताज्ञापनार्थम्।[12]

व्यास और जीमूतवाहन के अनुसार पति द्वारा पत्नी को दो सहस्र धन देने का अधिकार है, जिसका स्त्रियां स्वतंत्र रूप से उपभोग करती हैं। पुत्रहीन पति की मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होने वाले धन पर स्त्रियों का सम्पूर्ण रूप से आधिपत्य रहता है। जीमूतवाहन के अनुसार स्त्री की विभाजन में प्राप्त सम्पत्ति स्त्री धन नहीं है। स्त्री द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर भी स्त्री को केवल उपभोग करने का अधिकार है। विधवा पत्नी द्वारा प्राप्त सम्पत्ति के विनियोग के सम्बन्ध में कात्यायन का मत है कि पुत्रहीन विधवा जो पति की शय्या को पवित्र रखते हुए, गुरुजनों के साथ स्वनियंत्रण में रहती हैं, उसे आजीवन पति की सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार है। उसकी मृत्यु के बाद उस धन के उत्तराधिकारी पति के दायाद होते हैं।

इसी प्रकार स्त्री द्वारा अपने पति के उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति के संदर्भ में जीमूतवाहन का कथन है कि उस स्त्री की मृत्यु हो जाने पर उस सम्पत्ति को धन के पूर्वस्वामी अर्थात् उस स्त्री के पिता के दायाद प्राप्त करते हैं।

2. जीमूतवाहन ने जो दूसरे प्रकार की सम्पत्ति कही है, उसमें स्त्री का पूर्ण स्वत्व है अर्थात् उसे दान, विक्रय एवं उपभोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। इस प्रकार की सम्पत्ति में सौदायिक सम्पत्ति का समावेश रहता है। इस प्रकार जीमूतवाहन ने स्त्री को पति द्वारा दी गई स्थावर सम्पत्ति के दान विक्रयादि करने का निषेध किया है-

स्थावरेऽपि भर्तृदत्तमात्रे स्त्रिया दानाद्यनधिकारः।[13]

स्थावर से अतिरिक्त धन का स्त्री दान, व्यय आदि कर सकती है।

स्त्रीधन का उपयोग करने के लिए दण्ड की व्यवस्था

जीमूतवाहन ने कात्यायन का उल्लेख करते हुए कहा है कि स्त्रीधन का ग्रहण पति, पिता, भाई कोई भी नहीं कर सकता है। यदि वह करता भी है तो उसे ब्याजसहित वापस करना चाहिए और राजा द्वारा उसे दण्ड दिया जाना चाहिए। यदि कोई प्रीतिपूर्वक अनुमति लेकर उसका उपयोग करता है तो उसे धनवान होने पर केवल मूलराशि वापस करनी चाहिए। जीमूतवाहन के अनुसार पति यदि स्त्री का धन लेकर दूसरी पत्नी के साथ रहने लगता है तो राजा द्वारा पति से बलपूर्वक धन ग्रहण करके पूर्व पत्नी को दिलवाना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जीमूतवाहन के अनुसार स्त्री स्त्रीधन का विनियोग करने में पूर्ण स्वतंत्र है, वह स्वेच्छा से उस धन का दान, विक्रय तथा उपभोग कर सकती है।

स्त्रीधन के उत्तराधिकारी तथा विभाग

इस विषय में हिन्दू व्यवहारशास्त्र में बहुत मत-मतान्तर पाये जाते हैं किन्तु एक बात में सबका मत एक है। स्त्रीधन का उत्तराधिकार सर्वप्रथम कन्याओं को प्राप्त होना चाहिए। मिताक्षरा ने कहा है कि पुत्री में पुत्र की अपेक्षा माता के शरीर का अंश अधिक रहता है अतः उसे स्त्री धन की प्राप्ति में वरीयता मिलती है। किन्तु आगे चलकर पुत्रों को कन्याओं के साथ जोड़ दिया गया और कुछ स्त्रीधन में पुत्रों को वरीयता दे दी। इसका संभवतः कारण यह था कि आगे चलकर स्त्री धन की सम्पत्ति का विस्तार हो गया और लोगों को यह बात नहीं रूचिकर लगी कि स्त्रियों को लम्बी सम्पत्ति मिले।

अविवाहित कन्या के धन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों द्वारा कहा गया है कि कन्या के मर जाने पर सहोदर भ्राता तदुपरान्त माता और तत्पश्चात् पिता धन प्राप्त करता है-

मृतायां दत्तमाद्यात् परिशोध्योभयाव्ययम्।

याज्ञवल्क्य के अनुसार विवाह के प्रतिश्रुत हो जाने पर विवाह के पूर्व कन्या मर जाती है तो दोनों के पिता व्यय का शोध करके जो शेष बचे उसे वर को दे दे।

सप्रजा स्त्रीधन के सम्बन्ध में गौतम के अनुसार पुत्रियों को धन मिलता है। उसमें भी प्रथम अप्रत्ता (अवाग्दत्ता[14]) का उसके उपरान्त प्रत्ता का और इनके अभाव में विवाहित स्त्री का अधिकार है-

स्त्रीधनं दुहिततृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानाञ्च।

विवाहित पुत्रियों में भी पुत्रवती एवं संभावित पुत्री और तत्पश्चात् बन्ध्या और विधवा पुत्री का अधिकार समझना चाहिए। पुत्रियों के अभाव में पुत्रों का अधिकार होता है। तथा याज्ञवल्क्य, नारद तथा कात्यायन ने कहा है कि मातृधन को दुहिताओं के अभाव में पुत्र प्राप्त करता है। दूसरी ओर मनु के अनुसार सहोदर भाई एवं भगिनी दोनों का तुल्य अधिकार प्राप्त होता ह-

मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितृणां तदन्वयः।[15]

दुहितृणामभावे तु रिक्थं पुत्रेषु तद् भवेत्।[16]

मातुर्दुहितरः शेषमृणात्ताभ्यः ऋतेऽन्वयः।[17]

जनन्यां संस्थितायान्तु समं सर्वे सहोदराः।

भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः।।[18]

कौटिल्य के अनुसार सधवा रूप में स्त्री के मर जाने पर पुत्र एवं पुत्रियां स्त्री धन बांट लेते हैं। पुत्र के अभाव में पुत्रियां तथा पुत्रों एवं पुत्रियों के अभव में पति ले लेता है। किन्तु शुल्क, अन्वाधेय एवं स्त्रीधन के अन्य प्रकार, जो सम्बन्धियों से प्राप्त होते हैं, वे सम्बन्धियों को ही मिल जाते हैं। दायभाग के अन्तर्गत व्यभिचारिणी पुत्री को उत्तराधिकार नहीं मिलता है। किन्तु मिताक्षरा ने उसे भी अधिकार दिया है। किन्तु कुमारी या विवाहित पुत्रियों के उपरान्त ही उसे ऐसा अधिकार मिलता है। अतः व्यभिचारिणी का स्त्रीधन उसके भाई या बहन, पति अथवा पति के सम्बन्धियों को मिल जाता है।

दुहिता के अभाव में दौहित्र का धन में अधिकार माना जाता है क्योंकि ऐसा माना जाता है कि पुत्री अपने पुत्र के माध्यम से पार्वण, श्राद्ध एवं पिण्डदान करती है।

दायभाग के टीकाकार श्रीकृष्ण ने दौहित्र तथा बन्ध्या एवं विधवा पुत्री के बीच सपत्नी पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र का अधिकार माना गया है क्योंकि ये भी मृत स्त्री के पति द्वारा भोगे जाने वाले पिण्ड का दान देते हैं।

निःसन्तान स्त्री के स्त्रीधन के उत्तराधिकारी

याज्ञवल्क्यस्मृति में स्त्रीधन के स्वरूप में बन्धुदत्त, शुल्क एवं अन्वाधेयक धन का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार के धन पर स्त्री के निःसन्तान मरने पर उसके भाईयों का अधिकार हो जाता है-

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च।

अप्रजायायामतीतायां बान्धवास्तदवाप्नुयुः।।[19]

मनुस्मृति एवं नारदस्मृति में ब्रह्मादि-दैव-आर्ष-गान्धर्व एवं प्राजापत्य विवाह विधियों से परिणीता स्त्री के निःसंतान मरने पर उसके धन का उत्तराधिकारी उसका पति होता है-

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्धनम्।

अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते।।[20]

स्त्रीधनं तदपत्यानां भर्तुगाम्यप्रजासु तु।
ब्रह्मादिषु चतुष्वाहः पितृगामीतरेषु च।।[21]

जबकि आसुर-राक्षस एवं पैशाच विवाह विधियों से परिणीता अन्नपत्या स्त्री के धन के उत्तराधिकारी माता-पिता होते हैं-

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वरादिषु।
अतीतायामप्रजायां बान्धवास्तदवाप्नुयुः मातापित्रोस्तदिष्यते।।[22]

जीमूतवाहन के दायभाग के अनुसार निःसन्तान स्त्री के उत्तराधिकार का वर्णन

स्त्री के भर्तृपर्यन्त उत्तराधिकारियों के अभाव में जीमूतवाहन के पिण्डदान की प्रत्यासत्ति के आधार पर क्रमशः देवर, देवर-पुत्र, पति के ज्येष्ठ भ्रातृपुत्र, भर्तृभगिनीपुत्र, भ्रातृपुत्र एवं पुत्री के भर्ता का अधिकार स्वीकार किया गया है। जीमूतवाहन का कथन है कि देवर मृत स्त्री को उसके पति द्वारा दिए जाने वाले तीन पितृपूर्वजों का पिण्डदान करता है। अतः पिण्डदान करने से वह मृत स्वामिनी का अधिकारी होता है। पुत्री के भर्ता का श्वाश्रू के धन में अधिकार होता है क्योंकि वह सास ससुर का पिण्डदान करता है।

प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में याज्ञवल्क्यस्मृति में पिता के सम्पत्ति में पुत्र के न रहने पर पुत्री को पूरा अधिकार दिया गया है। और, कहीं-कहीं वर्णन मिलता है कि भाई पिता की सम्पत्ति के चौथाई भाग से स्त्री का विवाह करे या तो उपहारस्वरूप दे।

आधुनिककाल में स्त्रीधन का स्वरूप

हिन्दू स्त्री का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम 1937

इसके अनुसार विधवा, विधवा पुत्रवधू और विधवा पौत्र वधू को उत्तराधिकार के अधिकार दिये गये। इस प्रकार से प्राप्त सम्पत्ति को स्त्री स्त्री-सम्पदा के रूप में लेती थी न कि स्त्रीधन के रूप में। विधवाओं को ये अधिकार न केवल हिन्दू की पृथक् सम्पत्ति में दिए गये थे बल्कि उन्हें मिताक्षरा सहदायिक के अविभक्त हित में भी दिए गये थे।

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956, धारा 14(1)

इसके अनुसार स्त्रीधन एवं नारी सम्पदा के मध्य अन्तर समाप्त कर दिया गया है तथा महिलाओं द्वारा काबिल सभी सम्पत्ति उनकी पूर्ण सम्पत्ति हो गई है। वर्तमान अधिनियम एक स्त्री द्वारा अधिकृत सारी सम्पत्ति के सम्बन्ध में चाहे वह इस अधिनियम के आरंभ के पूर्व या पश्चात् अर्जित की गई थी, स्त्रीधन विषय पर अन्य बातों के साथ प्राचीन विधि पर अधिभावी है। इस अधिनियम की धारा 14 घोषणा करती है कि ऐसी सारी सम्पत्ति उसके द्वारा पूर्ण स्वामी के रूप में धारण की जायेगी। यह अधिनियम नारी उत्तराधिकारी पर पूर्ण दाय योग्य क्षमता प्रदान करती है तथा यह धारा सम्पत्ति धारण करने तथा उसका व्ययन करने के लिए हिन्दू नारी की शक्तियों पर पारस्परिक सीमा को हटाती है। हिन्दू नारी अपना स्त्रीधन रखने के लिए स्वतंत्र है। यह अधिनियम हिन्दू नारी द्वारा अधिकृत सम्पत्ति का जो या तो सीमित सम्पदा के रूप में है अथवा स्त्रीधन के रूप में है, उत्तराधिकार का एक रूप क्रम प्रतिपादित करती है। इस प्रकार स्त्रीधन सम्पत्ति के निगमन के विभिन्न ढंगों को समाप्त करती है।

धारा 15

निर्वसीयत मरने वाली हिन्दू नारी की सम्पत्ति धारा 15 में लिखे गये नियमों के अनुसार न्यायगत होगी–

1. पहले पुत्रों और पुत्रियों (किसी पूर्वमृत पुत्र अथवा पुत्री की सन्तान सहित) तथा पति पर।
2. पति के उत्तराधिकारियों पर।
3. पिता और माता पर।
4. पिता के उत्तराधिकारियों पर।
5. अन्त में माता के उत्तराधिकारियों पर।

उपधारा–1 में निहित नियम

1. अपने पिता अथवा माता से प्रापत कोई सम्पत्ति एक हिन्दू नारी द्वारा मृतक के किसी पुत्र यापुत्री की अनुपस्थिति में उपधारा–1 में सन्दर्भित अन्य उत्तराधिकारियों से उसमें निर्धारित क्रम से न्यायगत नहीं होगी।
2. अपने पति अथवा श्वसुर से प्राप्त सम्पत्ति का मृतक के पुत्र या पुत्री की अनुपस्थिति में उपधारा–1 में सन्दर्भित अन्य उत्तराधिकारियों में न्यायगत नहीं होगी किन्तु पुत्र के उत्तराधिकारियों में न्यायगत होगी।

मिताक्षरा विधि द्वारा शासित एक हिन्दू नारी एक पुत्र, एक पुत्री तथा एक सहोदर भाई को अपनी स्त्रीधन सम्पत्ति को छोड़कर मरती थी। लेकिन यह अधिनियम के पूर्व लागू थी।

उच्चतम न्यायालय में यह टिप्पणी की गई है कि एक हिन्दू विवाहिता नारी की सम्पत्ति के स्त्रीधन की स्थिति पाश्चात्य काल में पूर्णतया असंदिग्ध है। वह अपनी सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी है और अपनी इच्छानुसार किसी प्रकार व्यवहार कर सकती है। वह इसका पूरा व्ययन कर सकती है और पति को संदर्भित किये बिना अपनी इच्छानुसार इच्छापात्र को दान कर सकती है। सामान्यतया पति इसमें कोई अधिकार नहीं रखता है, जिसका एकमात्र अपवाद यह कि घोर आपदा की स्थिति में जैसे अकाल, बीमारी में पति इसका प्रयोग कर सकता है। किन्तु नैतिक रूप से इसे पुनर्स्थापित करने के लिए बाध्य है अथवा वह इसका मूल्य देगा जब वह ऐसा करने में सक्षम होगा।

स्त्रीसम्पदा का विस्तृत अर्थ है सारी सम्पत्ति जो एक स्त्री के पास किसी स्रोत से आयी है और जिसमें दोनों सम्पत्तियां सम्मिलित हैं जिसमें वह पूर्ण हित (स्त्रीधन) तथा सीमित हित रखती है।

उपसंहार

दायभाग प्रकरण में स्त्रीधन के स्वरूप से यह विदित होता है कि प्राचीन काल में भी स्त्रियों की दशा समुन्नत थी। उन्हें आदर सम्मान, शिक्षा तथा सम्पत्ति पुरुषों के समान ही प्रदान की गई थी। परन्तु मध्यकाल में आकर स्त्रियों की दशा निम्न होने लगी थी लेकिन राजा राममनोहर राय, दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी तथा स्वामी विवेकानन्द आदि समाज–सुधारकों तथा विचारकों के द्वारा स्त्रियों की स्थिति में सुधार किया गया और उन्हें समाज में पुनः सम्मान का स्थान प्रदान किया गया। आज वर्तमान समय में स्त्रियों की दशा काफी समुन्नत हो गयी है। आज उन्हें पुरुषों के समान बराबर का अधिकार एवं सम्मान दिया गया है। साथ ही सम्पत्ति में भी उन्हें पिता की सम्पत्ति में भाई के बराबर ही हिस्सा दिया गया है। पुत्र की सम्पत्ति की तो वह स्वामिनी मानी गई है। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में स्त्रियों के धन का स्वरूप विस्तृत हो गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कात्यायनस्मृति
2. याज्ञवल्क्यस्मृति - मिताक्षरा व्याख्या
3. नारदस्मृति
4. मिताक्षरा
5. बौ.ध.सू. 2.2.3.44
6. कौ. अर्थ.
7. याज्ञवल्क्यस्मृति, दायभागप्रकरण 143-144 श्लोक
8. मनुस्मृति 9.94
9. दायभाग, जीमूतवाहन 4.2.14
10. नारदस्मृति 13.4
11. याज्ञवल्क्यस्मृति 2.147
12. दायभाग 4.1.1
13. दायभाग 4.1.23
14. गौ.ध.सू. 3.10.22
15. ना.स्मृ. 13.2
16. का.स्मृ. 9.8
17. याज्ञ.स्मृ. 2.117
18. मनुस्मृति 9.192
19. याज्ञवल्क्यस्मृति 2.144
20. मनुस्मृति 9.196
21. नारदस्मृति, पृ.सं. 226
22. मनुस्मृति 9.117

एम० एन० राय एवं वामपंथी चिन्तन

ब्रज भूषण प्रसाद

शोध छात्र, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

मार्च-अप्रैल 1887 में एक शिक्षक दीनबन्धु भट्टाचार्य के घर में नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य (एम. एन. राय का मूल नाम) का जन्म 24 परगना जिले के अरबलिया गाँव में हुआ था। दीनबन्धु भट्टाचार्य सुधारवादी दृष्टिकोण के व्यक्ति थे। रूढ़ियों से जकड़े समाज में पिता के सुधारवादी दृष्टिकोण का प्रभाव नरेन की जिन्दगी पर पड़ा। लेकिन बंगाल के क्रांतिकारी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव में वे अपने किशोर अवस्था में ही आ गये, जो पूरी जिन्दगी उनके साथ जुड़ा रहा। उन्हीं शुरूआती दौर में उनके कुछ मूल भावनात्मक एवं बौद्धिक सरोकारों ने आकार ग्रहण किया। नरेन एक प्रतिबद्ध क्रांतिकारी हो गये। उनकी शिक्षा बाधित हुई। उनकी पारिवारिक कठिनाइयों के चलते भी ऐसा हुआ होगा। नये स्थापित राष्ट्रीय महाविद्यालय, जिसके साथ श्री अरविन्दो जुड़े हुए थे, से नरेन ने इंट्रेस परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की। उसके बाद उन्होंने बंगाल तकनीकी संस्थान में दाखिला लिया लेकिन वर्ष 1907 में एक राजनैतिक डकैती में शामिल होने के चलते, संस्थान का त्याग कर दिया।

राय की शुरूआती गतिविधियों एवं साहसिक कार्रवाइयों तथा बाद में उनके राजनैतिक एवं बौद्धिक विकास को समझने के लिये, राष्ट्रीय क्रांतिकारी आन्दोलन या "अतिवादी राष्ट्रवाद" की विचारधारा को समझना आवश्यक है।

प्रो. मजुमदार के शब्दों में बंगाल का जुझारू राष्ट्रवाद दो स्तम्भों पर टिका हुआ है। वेदान्त एवं गीता के दार्शनिक शिक्षा के आधार पर स्वामी विवेकानन्द का देशभक्ति का आह्वान तथा बंकिम चन्द्र द्वारा मातृभूमि के प्रति धार्मिक भक्ति।[1] लेकिन नये राष्ट्रवाद के सबसे बड़े पुरोधा श्री अरविन्दो ने इस जुझारू राष्ट्रीय आन्दोलन को भारत में एक गहरी एवं विस्तारित राजनैतिक अनुकूलता प्रदान की। भारतीय अतिभूतवादी भाषा में लिपटे उनके राष्ट्रीय दर्शन में हेगेल के दर्शन की मजबूत छाप थी।[2]

जिस राष्ट्रवाद की उन्होंने शिक्षा दी वह सर्वोत्तम धर्म था। चूंकि राष्ट्रीय स्वतंत्रता ईश्वर प्रदत्त है इसलिये राष्ट्रीय संघर्ष एक पवित्र (धार्मिक) उद्देश्य है जिसमें सभी तरह के संकीर्ण स्वार्थों, संबंधों, यहाँ तक कि सामान्य नैतिक विचारों को पीछे छोड़ना पड़ता है। वे स्वतंत्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये तथा उसे प्राप्त करने के तरीके के बारे में कोई समझौता करने के लिये तैयार नहीं थे। सुधारवादी कांग्रेसजनों के राजनैतिक कार्यकलापों के ठीक उलट उनकी राजनीति के महत्व एवं निहितार्थों को समझा जा सकता है। यह बात उस समय सामने आई जब 1907 के सूरत कांग्रेस (सम्मेलन) में सुधारवादी कांग्रेसजनों को इन अतिवादियों के गंभीर चुनौती का सामना करना पड़ा, उस समय तक कांग्रेस पर इन्हीं सुधारवादी या उदारवादियों का वर्चस्व था। ये सुधारवादी प्रशासन में भारतीयों की पूर्ण भागीदारी, सही कर नीतियों के जरिये भारतीय उद्योगों की सुरक्षा आदि माँगे रखते थे। वस्तुतः ब्रिटिश शासित राज्य, विकास के रास्ते के बारे में एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा था। इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिये ये उदारवादी संवैधानिकता का सहारा ले रहे थे। वे बार-बार ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता की दुहाई देते थे तथा कभी-कभी उनकी आवाज गिड़गिड़ाहट में बदल जाती थी। बौद्धिक रूप से अतिवादी विचारधारा के सबसे तेजस्वी प्रणेता के रूप में श्री अरविन्दो ने इन उदारवादी कांग्रेसी नेताओं की कटुतम शब्दों में निन्दा की। राजनैतिक स्वतंत्रता किसी भी देश के लिये हमारी सांस के समान है।[3]

राजनैतिक स्वतंत्रता का लक्ष्य हासिल किये बगैर, सामाजिक सुधार, शिक्षा में सुधार, उद्योगों का विस्तार एवं राष्ट्रीय जाति के नैतिक मूल्यों के उत्थान के प्रयास, मूर्खता की हद एवं बेकार की बात है। उन्होंने जोर देकर कहा कि एक पराधीन राष्ट्र स्वतंत्रता हासिल करने के लिए धीरे-धीरे अपने को तैयार नहीं करता है, यह स्वतंत्रता हासिल कर प्रगति की ओर बढ़ता है।[4] उन्होंने भिक्षा माँगने के तरीके तथा प्रार्थना एवं आवेदन करने एवं प्रतिरोध करने की नीतियों की खिल्ली उड़ाई। राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये विस्तारित सामाजिक आधार की कल्पना, उनके राजनीति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी। उन्होंने सुधारवादियों के मध्यवर्ग के प्रति एक खास तरह की पक्षधरता, उनकी आम जनता के प्रति विश्वास का अभाव, उद्योग, व्यापार, पेशा, प्रशासन में लगे मध्य वर्ग के प्रति मोहग्रस्तता की तीखी आलोचना की।[5] इसके विपरीत उन्होंने बहुत ही प्रगतिशील लहजे में कहा कि इस परिस्थिति से लड़ने की कुंजी सर्वहारा है। जो कोई भी सर्वहारा की स्थिति को समझने की कोशिश करता है और उसकी ताकत को अपने पक्ष में करता है, वही परिस्थिति का मालिक होगा। हमारा पहला एवं सबसे पवित्र उद्देश्य सर्वहारा को ऊपर उठाना और उसे ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करना है। एक धार्मिक राष्ट्रवादी जो समाजवादी नहीं है, उसके मुँह से सर्वहारा की बात सुनना, एक तरह से असंगत लगता है। लेकिन बंगाल के जुझारू राष्ट्रीय आन्दोलन को अरविन्दो ने जो नयी ऊर्जा एवं उसे नयी स्थिति प्रदान की, उसमें इन विचारों का एक बड़ा प्रभाव होगा। कम से कम उच्च मध्यवर्ग एवं उनकी राजनीति के बारे में वितृष्णा का भाव तो होगा ही।[6]

19वीं सदी के अन्तिम समय में बंगाल के उग्र युवाओं ने स्वामी विवेकानन्द से प्रेरणा प्राप्त करते हुए लाठी का प्रयोग करने तथा शारीरिक व्यायाम के लिये व्यायाम शालाएँ स्थापित की। इन व्यायाम शालाओं ने 1901 में प्रमथ मित्रा के नेतृत्व में सर्वविदित क्रांतिकारी संस्था अनुशीलन समिति के गठन का आधार प्रदान किया।[7] करीब-करीब उसी समय श्री अरविन्दो ने इसी तरह की संस्था के गठन पर विचार किया। वस्तुतः उन्होंने बड़ौदा से जतीन मुखर्जी एवं अपने छोटे भाई बरिन्द्र घोष को इस उद्देश्य के लिए बंगाल भेजा। लेकिन जल्द ही उनका संगठन अनुशीलन समिति के साथ समाहित हो गया जो बंगाल और भारत के अन्य हिस्सों में गुप्त गतिविधियों का प्रमुख संगठन हो गया। बंकिम चन्द्र के आनंद मठ का संगठन पर प्रभाव तथा बंगाल में अनुशीलन समिति का अनुशासन तथा 1904 में महाराष्ट्र में उसी तरह का संगठन नवभारत बहुत मजबूती से उभरा। आनंद मठ मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिये संन्यासियों के समूह की एक संघर्षपूर्ण कहानी है। आनंद मठ से लिया गया राष्ट्रीय गीत ''वन्देमातरम'' बंकिम चन्द्र की भावना का उद्रेक और भारत माता की पूजा में गाया गया गीत है।[8] संगठन में नये आगंतुकों के लिये जो शपथ दिलाई जाती थी उसमें भारत माता की स्वतंत्रता के लिये पूर्ण प्रतिबद्धता सिखाई जाती थी तथा भारत माता का नाम बहुत आदर एवं भक्तिभाव से ली जाती थी। संगठन के बारे में रायबाबू याद करते हैं कि आनंद मठ हमारी प्रेरणा का समान श्रोत था। उस उपन्यास से हमें क्रांतिकारी आदर्श का दर्शन होता था। वस्तुतः हमलोगों ने उस नाटक के मुख्य पात्रों की भूमिका का बंटवारा अपने बीच कर लिया था। वे संन्यासी थे। हमलोगों ने उनके रास्तों पर चलने की प्रतिज्ञा की थी।[9]

बंगाल के बंटवारे से (1905) पूरे देश में, खासकर बंगाल में क्रोध की लहर दौड़ गई। जुझारू राष्ट्रीयतावाद को और आगे बढ़ने का मौका मिला। आक्रोश से भरे बंगाल के क्रांतिकारी आगे की योजना बनाने में जुट गये। जल्द ही उनके बीच मतभेद उभर गये। उनके बीच जो अतिवादी थे, वे ब्रिटिश शासकों के खिलाफ आंतकवादी कार्रवाई के जरिये उनके हौसले को तोड़ना चाहते थे तथा प्रशासन को प्रभावहीन बनाना चाहते थे। दूसरे लोग आतंकवाद को तिलांजलि देकर अंतिम तौर पर

सत्ता पर कब्जा करने के लिये संगठित सैनिक तैयारी करना चाहते थे। इस समूह के नेता अनुभवी प्रमथ मित्रा थे। उनकी मृत्यु के बाद नेतृत्व का भार जतीन मुखर्जी के कंधे पर आ गया। नरेन भट्टाचार्य उनके सिपहसालाकारों में से एक हो गये।[10]

हालांकि नरेन की साहसिक कार्रवाइयों का विस्तार प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने के बाद हुआ लेकिन उस समय तक वे एक अति साहसी क्रांतिकारी बन चुके थे। वे 1907 में ''चिंगरीपोटा'' डकैती मामले में गिरफ्तार हुए लेकिन पर्याप्त साक्ष्य के अभाव में मुक्त कर दिये गये। वे फिर 1910 में हावड़ा षड्यंत्र मामले में गिरफ्तार किये गये और एक अभियोगी कैदी के रूप में 20 महीनों तक जेल में बंद रहे। जेल से छूटने के बाद, वे थोड़े दिनों के लिये सन्यासी बन गये, लेकिन जल्द ही वे राजनीति में लौट आये।

युद्ध के छिड़ने के बाद, जर्मनी की आर्थिक मदद से बंगाल के क्रांतिकारियों ने एक बड़े हमले की योजना बनाई। उन्होंने आनेवाली क्रान्ति के लिये एक 'जेनरल स्टाफ' का गठन किया तथा जतीन मुखर्जी को उसका प्रधान सेनापति बनाया।[11] कोष की वसूली के लिये उनलोगों की कई डकैतियों (दोनों डकैतियाँ फरवरी 1915 में हुई) में नरेन शामिल थे। लेकिन उनकी योजना का केन्द्र बिन्दु गुप्त रूप से जर्मनी से बड़े पैमाने पर अस्त्र प्राप्त करना था। जर्मनी और फ्रांस्सिको में कार्यरत भारतीय क्रांतिकारियों से संबंध स्थापित किये गये। पूर्व निर्धारित योजना के मुताबिक एस. एस. मेमरिक को अस्त्र लादकर भारत आना था। अस्त्रों को पहुँचाने की व्यवस्था के लिये अप्रैल 1915 में नरेन को बटाविया भेजा गया। उन्होंने अपना नाम सी. मार्टिन रख लिया। वे बटाविया में जर्मनी के वाणिज्य दूत थियोडोर टेल्फी से मिले। अस्त्र से भरे जहाज को उड़ीसा तट पर भेजने की योजना बनाकर, वे वापस चले आये। एस. एस. मेमरिक, अमरीकी एवं ब्रिटिश अधिकारियों के चपेट में पड़ गये और अपने नियत स्थान पर नहीं पहुँच सके। नरेन ने फिर अगस्त में दूसरी बार जावा की यात्रा की। लेकिन इस बार की असफलता के बाद वे भारत नहीं लौटे और अपना भाग्य आजमाने जापान चले गये। रास बिहारी बोस से निराशा के बाद, चूँकि उनसे नरेन की ज्यादा अपेक्षा थी, उन्होंने सनयात सेन से भेंट की जिन्होंने जापान में आश्रय लिया था। सनयात सेन ने उनके सामने प्रस्ताव रखा कि अगर वे जर्मनी के राजदूत से 50 लाख डॉलर प्राप्त करने में सफल हों तो वे उस रूपये का उपयोग यू आन शी काई को परास्त करने में करेंगे और तीसरी क्रान्ति को सफल बनायेंगे।[12] इस क्रान्ति को पूरा होने के बाद, जो बेकार अस्त्र-शस्त्र होंगे वे उत्तर सीमांत की ओर से भारत भेज दिय जायेंगे। इस महायोजना ने मेरी साहसिक ऊर्जा को पंख लगा दिया। बहुतेरे साहसिक कारनामों के बाद उन्होंने चीन में जर्मनी के राजदूत एडमिरल वॉन हिन्ज से मुलाकात की। राजदूत ने उन्हें सलाह दिया कि इतनी बड़ी रकम आवंटित करने का काम जर्मन शाही सेनापति ही कर सकते हैं, अतः आप जर्मनी चले जाँय।[13]

चीन और जापान में सम्मानजनक कार्य नहीं करने की स्थिति में उन्होंने बर्लिन जाने से पहले, अमेरिका में रहने वाले क्रांतिकारियों से संबंध स्थापित करने का निर्णय लिया। बहुतेरे रोमांचक कारनामों के बाद नरेन 1916 में अन्ततः सन फ्रांसिसको पहुँच गये। लेकिन पुलिस से होनेवाली मुश्किलों को भांपते हुए वे स्टेन फोर्ड विश्वविद्यालय वाले शहर पालो आल्टो चले गये। वहाँ वे धन-गोपाल मुखर्जी से मिले जो जादु गोपाल मुखर्जी के छोटे भाई थे। जादु गोपाल मुखर्जी, नरेन के भारत में क्रांतिकारी सहयोगी थे। धन गोपाल मुखर्जी के सुझाव पर उन्होंने अपना नाम एम. एन. राय रख लिया। उसी विश्वविद्यालय परिसर में उन्हें एक स्नातक महिला एवलिन से मुलाकात हुई। उनलोगों ने आपस में विवाह करने का निर्णय लिया और वे वहाँ से न्यूयार्क रवाना हो गये, जहाँ उन्होंने लाला लाजपत राय के साथ दोस्ती गांठी। लाजपत राय उन दोनों के प्रति स्नेहशील थे और

राय के बारे में उनकी सोच सकारात्मक थी। यही पर नरेन मार्क्सवाद की ओर मुड़े, लेकिन उनके बौद्धिक विकास का वाजिब श्रेय एवलिन को दिया जाना चाहिये। न्यूयार्क में लाजपत राय और राय आमतौर पर प्रगतिशील लोगों, समाजवादियों, अराजकतावादियों संघवादियों के साथ वाद-विवाद में मार्क्सवादी भौतिकवाद का विरोध करते थे।[14] इस वाद विवाद में वे आध्यात्मिक ज्ञान का सहारा लेते थे। वाद-विवाद में प्रभावी ढंग से हिस्सा लेने के लिये राय ने मार्क्सवादी साहित्य का अध्ययन किया। लेकिन इस संबंध में याद करते हुए वो कहते हैं कि इस अध्ययन ने उनके उद्देश्य को पराजित करने की स्थिति पैदा कर दी। एक दिन जब लाजपत राय साम्राज्यवादी शोषण के चलते भारत की गरीबी की हृदयविदारक तस्वीर पेश कर रहे थे, एक क्रांतिकारी ने उनसे प्रश्न किया कि भारत की स्वाधीनता के बाद भारतीय कैसे देश से गरीबी खत्म करने का काम करेंगे? लाजपत राय द्वारा इस संबंध में दिये गये असंतोषजनक उत्तर के बाद फिर एक प्रश्न पूछा गया कि भारतीय जनता को इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि उनका शोषण विदेशी साम्राज्यवादियों के बदले देशी पूँजीपतियों द्वारा हो रहा है?[15]

हालांकि लाजपत राय क्रोधित हो गये लेकिन इस प्रश्न ने राय के विचार में पूर्ण बदलाव ला दिया। राय ने इस संबंध में याद करते हुए कहा है, कि मैं इस प्रश्न के सामने अन्दर से बेचैनी महसूस कर रहा था, हमारे मामले में कुछ बातें गलत थीं। अचानक मेरे मस्तिष्क में एक प्रकाश कौंध गया और यह एक नये ढंग का प्रकाश था। न्यूयार्क सार्वजनिक पुस्तकालय में उन्होंने कार्ल मार्क्स की कृतियों का गहराई से अध्ययन किया और उसमें उन्होंने नया अर्थ ढूढ़ा। वे आगे कहते हैं, कि उसके बाद मैंने भौतिकवादी दर्शन को छोड़कर, समाजवाद ग्रहण कर लिया। वह अन्तिम प्रयास था, जिसकी रक्षा मैंने लम्बे समय तक की। वर्ष 1917 के शुरूआती समय में वे जर्मन-हिन्दू षड्यंत्र मामले में गिरफ्तार किये गये और न्यायालय के सामने प्रस्तुत किये गये। न्यायालय ने उन्हें वहाँ से भागने के विरुद्ध चेतावनी दी। लेकिन कानून के रक्षकों को झांसा देने में माहिर राय भागकर मैक्सिको चले गये।[16]

मैक्सिको न सिर्फ सुरक्षित और रहने लायक ही जगह था, बल्कि उसने इनके ऊपर कल्पना से परे सम्मान, अवसर एवं सहुलियतें न्योछावर कर दी। एक अजीब तरह के षड्यंत्रकारी घटना क्रम के दौरान राय को जर्मनी के श्रोत से तथा मैक्सिको सरकार से अप्रत्याशित आर्थिक मदद मिल गई। वे ऊँची राजनैतिक, सामाजिक और खासकर समाजवादी खेमे में एक ऐसे व्यक्ति के रूप में पहचाने जाने लगे जिससे सभी मिलना चाहते हो। यह एक ऐसा अनुभव था जिससे मुझे भाग्य पर भरोसा होने लगता लेकिन चूंकि मैं जन्म से ही शंकालू था, इसलिये मैं भाग्यवादी होने से बच गया।[17]

जब नरेन मैक्सिको में थे उसी समय बोल्शेविक क्रान्ति हुई। मैक्सिको के तमाम वामपंथी समाजवादियों पर इसका ऊर्जामय प्रभाव पड़ा। राय ने इस प्रभाव का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है। मैं इस ऊर्जामय प्रभाव के वशीभूत हो गया। यह मेरे राजनैतिक विकास का नविनीकरण था। यह एक कट्टर राष्ट्रवादी का साम्यवाद की ओर छलांग थी। इस बदलाव का आंतरिक मनोविज्ञान बहुत रोचक है।

राय द्वारा बाद में दी गई बातों की जानकारी नीचे दी जा रही है। (हालांकि ये जानकारियाँ तार्किकता के तत्व से एकदम मुक्त नहीं हो सकती है) जिससे उनके बौद्धिक विकास का संभावित सूत्र प्राप्त होता है। राय कहते हैं कि ''सबसे क्रान्तिकारी विश्वास के प्रतिनिष्ठा व्यक्त करना एक भावनात्मक संतुष्टि थी। सांस्कृतिक तौर पर मैं अभी भी राष्ट्रवादी था। और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एक ऐसा दुराग्रह है जो बहुत देर तक जकड़े रहता है। अपने साम्राज्यवाद विरोधी वैचारिक तेवर के चलते

समाजवाद, मुझे एक सही विचारधारा लग रहा था। इसके आदर्शवादी एवं मानवीय पहलू उनके लिये उतने नये नहीं थे, जिन्होंने आनन्दमठ से क्रांतिकारी प्रेरणा ग्रहण की थी।

राष्ट्रीय क्रांति का पुराना परिपेक्ष्य अब समाजवादी परिपेक्ष्य के रूप में सामने आ चुका था। इसके साथ ही, जहाँ तक पुराने कामरेडों को सहायता देने का सवाल है, यह उनका कर्तव्य है। जर्मनी का दृष्टिकोण उत्साहजनक था। वस्तुत: यूरोप में अपनी हार के बाद उन्होंने अपनी महत्वाकांक्षी रणनीति को लागू करने के लिये व्याकुलता के साथ भारत और अन्य क्षेत्रों का उपयोग करने के लिये उनकी ओर हाथ बढ़ाया। जर्मनी का शाही वाणिज्यिक अधिकारी, मैक्सिको आया और राय के साथ चीनी अस्त्र खरीदने की पुरानी योजना पर चर्चा की। राय को सभी संभव सुविधाएँ प्रदान करने का आश्वासन दिया गया तथा मैक्सिको के राष्ट्रपति ''कोरेन्जा'' जिन्हें सारी बातों की जानकारी थी, उन्होंने इस योजना में राय के कामयाबी की कामना करते हुए उनके यात्रा का पूरा इंतजाम किया। लेकिन मैक्सिको के जमीन एवं समुद्री मार्ग के द्वारा मैक्सिको तट के इर्द-गिर्द थकावट पूर्ण यात्रा के बाद राय ने इस योजना पर कार्य करना बंद कर दिया और मैक्सिको लौट आए। उन्होंने राष्ट्रीय राजनीति के पुराने रास्ते को पुरी तरह तिलांजली दे दी और अपने नये आदर्श समाजवाद को साकार करने में पूरी निष्ठा से कूद पड़े ।[18]

सरकारी संरक्षण एवं पैसे की अधिकता से राय एक आरामदायक जिन्दगी, यहाँ तक कि ऐशपूर्ण जिन्दगी जी सकते थे। उनके जो पुराने सात्विक संकोच थे वे धीरे-धीरे समाप्त हो गये और उन्होंने जीवन से जुड़ी अच्छी चीजों की प्रशंसा शुरू कर दी। वे अच्छे भोजन, पेय पदार्थों, नृत्य, गीत आदि का आनंद लेने लगे। यह उनकी जीवन दृष्टि में एक मौलिक परिवर्तन का द्योतक था। हालांकि बहुत बाद में उन्होंने भौतिकवाद को जिन्दगी से जुड़ा दर्शन बतलाया, लेकिन वे खुद भौतिकवादी हो गये थे क्योंकि वे जीवन के आनंद में शामिल होना कोई बुराई नहीं समझते थे। और उन्होंने सात्विकता को अवैज्ञानिक, अमानवीय एवं ढोंगीपन के रूप में देखना शुरू किया। यह उनके साथ एक प्रतिबद्ध विचारधारा के रूप में जुड़ा रहा जो उनके मानवतावादी दर्शन का आधार बना।[19]

लेकिन सबसे उनके जीवन का नाटकीय पहलू, उनका देश के सार्वजनिक जीवन में प्रसिद्धि पाना है। एक अनजाने विदेशी के साथ राष्ट्रपति एवं अन्य मंत्रियों द्वारा देश की ऊँची राजनीति के बारे में सलाह-मशविरा और उनका एक राजनेता के रूप में सम्मान तथा विशेष भोज में स्वागत सत्कार तथा देश के बौद्धिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में बिना माँगे एवं अप्रत्याशित ढंग से नेतृत्वकारी भूमिका प्रदान करना, निश्चय ही विस्मयकारी है । ऐसे अवसरों के मर्मस्पर्शी अनुभवों को राय ने अपनी प्रतिक्रिया में इस तरह व्यक्त किया है – ऐसे तमाम घटनाक्रम ''हॉस्य ओपेरा'' से लिये गये दृश्यों की तरह होता था। यह एक जासूसी कहानी की तरह लगता था। ऐसा प्रतीत होता था कि भाग्य मुझे फिर से मेरी निष्ठा को हासिल करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ है।

एक बुद्धिजीवी के रूप में राय ने एक अच्छी शुरूआत की। उन्होंने स्पेनिश भाषा सीखी और वामपंथी स्पेनिश पत्रिकाओं में लिखना शुरू किया। भारत पर स्पेनिश में उनकी किताब ''ला इंडिया: सू पसाडे, सूप्रेजेन्ट, सूपोरमेनीर 1918 में प्रकाशित हुई। इस छोटी किताब में मोनरो सिद्धान्त पर लिखा–"दी वे टू डुरेबुल पीस" जब अमरीका में राय थे तब लिखा गया था, जोड़ दिया गया। इस किताब को प्रशंसा मिली। विश्वविद्यालय के रेक्टर मेस्ट्रो कैसास के आमंत्रण पर उन्होंने एक भाषण दिया। यह एक ऐसे आदमी के लिये जिसे किसी औपचारिक शिक्षा का लाभ नहीं मिला है, अत्यन्त ही आनन्ददायक बात थी। मैक्सिको के समाजवादी आन्दोलन में राय का चमत्कारिक महत्व था। इसमें कोई शंका नहीं कि मैक्सिको की सरकार और वहाँ का समाजवादी आन्दोलन जिस तरह राय

के व्यक्तित्व का इस्तेमाल करना चाहते थे उससे राय की इतनी ऊँची हैसियत हो गई थी। लेकिन यह राय की कोई छोटी उपलब्धि नहीं थी कि वे इस परिस्थिति के अनुरूप एक बड़ी हस्ती बन गये थे। एक बौद्धिक एवं राजनैतिक नेता के रूप में अपने को सम्पन्न साबित करने में वे आश्चर्यजनक रूप से कामयाब रहे। दिसम्बर 1918 में मैक्सिको की समाजवादी पार्टी के महासचिव चुने जाने के बाद उन्होंने उस पार्टी को वर्ष 1919 में कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह रूस के बाहर पहली कम्युनिस्ट पार्टी थी।[20]

कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के प्रतिनिधि के तौर मैक्सिको आये बोरोदिन ने इस बात के लिये प्रमुख रूप से पहल किया। मैक्सिको आने के बाद बोरोदिन ने राय से गहरी मित्रता गाँठ ली। हालांकि राय ने बोरोदिन को आर्थिक संकट एवं अन्य संकटों से मुक्त होने में सहायता की लेकिन बोरोदिन की मित्रता से राय की जिन्दगी में एक बड़ा बदलाव आ गया। राय के अनुसार बोरोदिन ने उन्हें हेगेल के द्वन्द्ववाद की गुन्थियों से साक्षात्कार कराया, जो मार्क्सवाद की कुंजी है। भारतीय ज्ञान के संबध में जो लम्बे समय से चला आ रहा विश्वास था, वह धूमिल पड़ता गया और उनसे मैंने यूरोप की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया। बोरोदिन ने उन्हें मैक्सिको की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में ''कम्युनिस्ट इंटरनेशनल'' के दूसरे सम्मेलन में शामिल होने के लिये राजी किया। उन्होंने राय द्वारा उनके पुनर्जन्म की जगह को छोड़े जाने में हो रही हिचकिचाहट को दूर किया और कहा कि अपने देश को मत भूलों, मास्को तो रास्ते में है। राय ने टिप्पणी की कि इस बात से उनके सामने एक नया दृश्य कौंध गया, यह मेरे जीवन का नया अध्याय था।

मास्को की उनकी यात्रा उत्तेजनापूर्ण अनुभवों के बगैर पूरी नहीं हुई। इस बार उन्होंने वी. ग्रेसिया के नाम से यात्रा की और मैक्सिको की सरकार ने उन्हें बहुत सारी सहूलियतें प्रदान की। रास्ते में वे बर्लिन में रूक गये (दिसम्बर 1919 से अप्रैल 1920)। यह उनकी अंतिम यात्रा नहीं थी। बर्लिन में ठहरना, उनके लिये बहुत उपयोगी साबित हुआ। मैंने बहुत कुछ सीखा और बहुत से नये मित्र और परिचित बनाये।[21]

जिनको मित्र बनाया और नये लोगों से परिचित हुए उनमें जर्मन सामाजिक जनवादी आन्दोलन के पुराने कद्दावर नेता, बर्न्सटीन, काउत्सकी, हलफरडिंग और नये कम्युनिस्ट नेता थैलिमर, ब्रान्डलर, फुक्स, एनेस्ट मेयर, इसके साथ-साथ उन्हें विश्व के विभिन्न हिस्सों के क्रांतिकारियों के साथ क्रांति की समस्या पर बात करने का अवसर मिला। यह जर्मनी में कम्युनिस्ट क्रान्ति का घटनाओं से भरा दौर था। यह गौरवशाली संघर्षों एवं दर्दनाक पराजय का दौर था। बर्लिन में रूकने से उनकी सैद्धांतिक समझ ज्यादा समृद्ध तथा व्यवहारिक अर्न्तदृष्टि गहरा हुआ होगा। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के बहसों में जो बाद में उन्होंने हिस्सा लिया, वह ठोस आकार ग्रहण कर रहा था। जर्मनी में अनेकों महीनों तक रहने से मुझे यूरोप के हालात का पता चला और उनके तात्कालिक परिप्रेक्ष्य से मेरी यह समझ बनी कि महानगरीय देशों के सर्वहारा सत्ता हासिल करने के साहसिक प्रयास में तबतक सफल नहीं होंगे जबतक कि औपनिवेशिक देशों की जनता विद्रोह के जरिये साम्राज्यवाद को कमजोर न कर दे।

मास्को पहुँचने के बाद उनकी मुलाकात रूस की कम्युनिस्ट पार्टी एवं कम्युनिस्ट इंटननेशनल के शीर्ष नेतृत्वकारी साथियों से हुई। उन दिनों के उनके जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया जा सकता है। बोल्शेविकवाद की माँ बालबानोवा के साथ एक बैठक के दौरान, राय को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के दूसरे सम्मेलनों के लिये लेनिन द्वारा राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्न पर तैयार सैद्धान्तिक दस्तावेज दिया गया। ऊपर के पृष्ठ के बाये कोने पर लेनिन ने लिखा था, राय के आने पर उनकी आलोचना एवं सुझाव लिये जॉय। राय ने इसका वर्णन करते हुए कहा कि सचमुच

में मेरे लिये यह सातवें आसमान पर उड़ने वाली बात थी। राय को कुछ देर के बाद लेनिन से मिलने के लिये कहा गया। उत्तेजना के मारे वे उस दस्तावेज को लेनिन से मिलने से पहले सावधानी पूर्वक नहीं पढ़ सके। लेनिन के साथ राय की पहली मुलाकात अत्यन्त संक्षिप्त थी, लेकिन यह उनकी जिन्दगी के लिये सबसे स्मरणीय घटना थी। राय ने कामिन्टर्न के दूसरे सम्मेलन में औपनिवेशिक एवं पराश्रयी देशों में कम्युनिस्ट पार्टी की रणनीति एवं कार्यनीति के सवाल पर लेनिन के साथ बहस किया। राय का लेनिन के साथ प्रसिद्ध विवाद, किसी नौसिखुए महत्वाकांक्षी व्यक्ति का नाटकीय ढंग से हठधर्मिता दिखलाना नहीं था। उनका लेनिन के साथ निजी तौर पर बहस हुआ था। उसके बाद उन्होंने लेनिन के ही कहने पर अपनी ओर से एक पूरक दस्तावेज प्रस्तुत किया। लेनिन का विचार था कि औपनिवेशिक एवं अर्द्ध औपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवाद का आधार देशी सामन्तवाद के बीच हैं और इसके आलोक में चूँकि पूँजीवादी राष्ट्रीय आन्दोलन प्रगतिशील प्रकृति का है। अतः इस संदर्भ में इसे सभी कम्युनिस्टों का समर्थन मिलना चाहिये। ৮

ाारतीय पृष्ठभूमि के आधार पर बोलते हुए राय ने विचार व्यक्त किया कि पूँजीपतियों की शक्ति को कम करके आंका जा रहा है और उसकी प्रकृति को समझने में भूल की गई है। हमलोगों ने देखा है कि किस तरह बंगाल के जुझारू राष्ट्रवादी कांग्रेसी उदारवादियों के आवेदन देने, प्रार्थना करने और प्रतिरोध करने की बात को नापसन्द करते थे। श्री अरविन्दो ने सर्वहारा के हितों और उसकी संभावनाओं के बारे में खुलकर बातें रखी थीं। एक मार्क्सवादी होने के नाते, लेनिन के साम्राज्यवाद संबंधी सिद्धांतों के आधार पर वे भारतीय क्रांति को एक भिन्न परिपेक्ष्य में देखते थे। हालांकि यह समाजवादी क्रांति नहीं था लेकिन यह पूँजीवादी जनवादी क्रांति के दौर से बहुत आगे था। युद्ध के बाद भारत में आर्थिक विकास के क्रम में उन्होंने इस नीति की कल्पना की जिसके अनुसार ब्रिटिश सरकार की ओर से भारतीय पूँजीपतियों को छूट दी जायेगी और भारत का पूंजीपति वर्ग उसके साथ समझौता करेगा। राष्ट्रवादी राय के लिये पूँजीपतियों के व्यवहार पर विश्वास करना संभव नहीं था और एक मार्क्सवादी राय के लिये तो यह और भी दुष्कर बात थी। वे भारत में समाजवादी क्रांति के विकास के लिये इसमें और ज्यादा गहरा महत्व खोजने लगे। इसीलिये राय ने शुरू से ही पूँजीपतियों के प्रति सावधानी बरतने की नीति अपनाई और सही सामाजिक आधारों, मजदूरों, किसानों तथा निम्न पूजीपतियों पर विश्वास करने की बात कही। इसके आगे उन्होंने कहा कि साम्राज्यवादी मुल्कों द्वारा औपनिवेशिक देशों के शोषण से लिये गये अत्यधिक मुनाफे के कारण ही ये देश टिके हुए हैं इसलिये क्रांति का भविष्य पूर्व की जीत पर ही निर्भर है।[22]

हालांकि रूसी एवं अन्य कम्युनिस्ट नेता राय के विचार से पूरी तरह सहमत नहीं हुए लेकिन उनसे वे प्रभावित जरूर हुए। उन्हें जिम्मेदारी वाला पद दिया गया और वे पूर्व के देशों के प्रधान प्रवक्ता के रूप में सम्मानित किये गये।

सम्मेलन के बाद राय को ताशकन्द में क्रांतिकारी आधार तैयार करने की एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी दी गई। भारतीय सीमा के साथ इसकी नजदीकी और रूसी सरकार का अफगानी सरकार के साथ दोस्ताना संबंध के चलते, वहाँ क्रान्ति के सैनिकों को तैयार करना एक अच्छा एवं संभावना से भरा लक्ष्य था। ताशकन्द में राय के ठहरने के दौरान उन्हें उत्तेजनात्मक अनुभवों से गुजरना पड़ा।

उसी समय भारत में खिलाफत आन्दोलन परवान चढ़ रहा था तथा मुजाहिरों का एक समूह लम्बे एवं कठिनाइयों से गुजरते हुए पैदल तुर्की जाने के बजाय ताशकन्द पहुँचा। राय ने इन लोगों के राजनैतिक शिक्षण का काम किया एवं उनके लिये भारतीय सैनिक स्कूल में सैनिक शिक्षा का प्रबंध किया। प्रवासी कम्युनिस्ट पार्टी का गठन 1920 के अन्त में या 1921 की शुरूआत में हुआ। लेकिन

ब्रिटेन के विरोध के चलते सैनिक विद्यालय को बन्द करना पड़ा। प्रवासी कम्युनिस्ट पार्टी का मुख्यालय मास्को चला गया। राजनैतिक क्रांतिकारियों की राजनैतिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण के लिये पूर्व के श्रमिकों के लिये कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय की स्थापना 1922 में की गई। राय को इस विश्वविद्यालय का निदेशक नियुक्त किया गया। इस विश्वविद्यालय में हो. ची. मिन्ट के एक छात्र के रूप में दाखिले की चर्चा है।

कॉमिन्टर्न में राय का उत्थान बहुत तेज गति से तथा अचंभित करने वाला था। 1922 में इसके कार्यकारिणी समिति के उम्मीदवार सदस्य के रूप में शुरू करते हुए, 1924 में ये इस समिति में मतदान के अधिकार के साथ पूर्ण सदस्य हो गये तथा 1926 तक इनके प्रभाव ने अन्तिम ऊँचाई प्राप्त कर ली। उन्होंने कॉमिन्टर्न के एक के बाद एक होनेवाले सम्मेलनों (1921 तीसरा सम्मेलन, चौथा 1922, पाँचवाँ 1924) में औपनिवेशिक एवं पराश्रयी मुल्कों में क्रांति की राजनीति एवं कार्यनीति के संबंध में पारित प्रस्तावों एवं नीतिगत प्रश्नों पर राय के प्रभाव को देखा जा सकता है।[23]

1928 के छठे कमिन्टर्न के सम्मेलन में निष्कासन के पहले तक, राय एक मार्क्सवादी लेखक, पत्रकार एवं संगठक के रूप में बहुत सक्रिय थे। इन वर्षों के दौरान इन्होंने दो महत्वपूर्ण किताबें लिखी। (1) ''इंडिया इन ट्रांजीशन (भारत परिवर्तन के दौर में) (2) ''दी फ्यूचर ऑफ इंडियन पालिटिक्स'' (भारतीय राजनीति का भविष्य)। ये किताबें उन्होंने अपनी खास अंदाज में लिखी। परिस्थितियों के अनुकूल बर्लिन, ज्यूरिख, एन्ने और पेरिस में रहने के दौरान उन्होंने दो पत्रिकाओं को सम्पादित किया। ''वेन्गार्ड ऑफ इंडियन इंडिपेन्डेन्स'' (भारतीय स्वाधीनता का अगुआ दस्ता) इन पत्रिकाओं की प्रतियों को उन्होंने चोरी-छिपे भारत में भेजने की व्यवस्था की। उन्होंने कॉमिन्टर्न के मुख पत्र, इन्प्रेकर में लेखन के माध्यम से योगदान किया। हालांकि उन्होंने भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन की ताकत को बढ़ा-चढ़ाकर तथा गांधी की ताकत को कम करके आंका लेकिन वे भारतीय राजनीति में एक हद तक क्रांतिकारी (मौलिक सुधारवादी) रूझान पैदा करने में सफल हुए तथा भारत में साम्यवाद के विकास के लिये जगह मिली।

चीन की पराजय और उससे जुड़ी परिस्थितियों के बाद कॉमिन्टर्न से निष्काषन की घटनाओं का जिक्र अध्याय पाँच में हैं। वे 1930 में भारत लौट गये। लेकिन 1924 एवं 1926 के कम्युनिस्ट षड्यंत्र मामले के अभियुक्त के नाते उन्हें 6 वर्ष के लिये कारावास की दण्ड सुनाई गई। 1936 में अपनी रिहाई के बाद उन्होंने ''एलेन'' से विवाह किया, जिनसे उनका परिचय भारत आने से पहले जर्मनी में हुआ था। (एवलिन और राय 1926) में एक-दूसरे से अलग हो चुके थे) राय के प्रति एलेन की प्रतिबद्धता तथा उनके साथ सहयोग की बातें रायवादियों के बीच मशहूर हैं।

राय ने तत्काल राजनैतिक गतिविधियों में हिस्सा लेना शुरू किया, लेकिन इस बीच में वे बड़े तौर पर बदल चुके थे। जेल के अन्दर उन्होंने दर्शन पर ढेरों किताबें पढ़ी। हालांकि अभी भी वे राजनैतिक समस्याओं के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाते थे लेकिन अब उनके ऊपर दार्शनिकता की छाप ज्यादा दिखाई पड़ती थी। वे मार्क्सवाद को एक नई रोशनी में देखने लगे। करीब 6 वर्षों तक उनके अन्दर बौद्धिक जंग जारी रहा।[24]

यह संघर्ष अपने तर्क पर आधारित था जिसके फलस्वरूप नव मानवतावाद का जन्म हुआ। यहाँ यह कहना माकूल होगा कि राय की राजनीति से निराशा और उसे नहीं पसंद करने के पीछे, उनके विचार में हुआ परिवर्तन उत्तरदायी था। जेल से निकलने के बाद उनके द्वारा लिखी गई ढेरों पुस्तकें, उनके इस वैचारिक परिवर्तन की तरफ इशारा करती है।

तीसवें एवं चालीसवें दशक में राय का राजनैतिक अनुभव, बहुत अच्छा नहीं था। वे कांग्रेस को अपनी तरफ मोड़ना चाहते थे लेकिन कांग्रेसी नेता उनके लिये बहुत चालाक निकले। उन्होंने अपने से सहानुभूति रखनेवालों एवं प्रशंसक समूहों को लेकर ''रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी'' का गठन वर्ष 1940 में किया। यह भारतीय राजनीति में अपनी पहचान नहीं बना सका। धर्म एवं राष्ट्रवाद के बारे में उनकी क्रांतिकारी एवं अलोकप्रिय (अग्राह्य) विचार इसके प्रमुख कारण थे। 1931 के पहले तक के राय ''एक साजिशकर्त्ता'' एक संगठन एवं कार्यनीति निर्धारण करने वाले के रूप में जो भी कहा जाय लेकिन उसके बाद राजनैतिक स्वार्थ परायणता के प्रति उनका कोई लगाव नहीं रहा। उसके बाद एक उद्देश्य के प्रति समर्पित एक बड़े चिन्तक के रूप में उन्होंने काम करना शुरू किया। उनकी मोटी पुस्तकों का बड़ा हिस्सा धर्म और राष्ट्रवाद की आलोचना से जुड़ा हुआ है। हमलोगों को धर्म के बारे में उनके विचारों के बारे में इस अध्ययन के दौर में और बहुत सी बातें कहनी होंगी।[25]

राष्ट्रवाद के खिलाफ उनकी लगातार आलोचना के पीछे उनका स्पष्ट अभियोग था कि राष्ट्रवाद में फासीवाद अन्तर्निहित है। गांधीजी के राष्ट्रवाद और धर्म के बारे में उनकी यही समझ थी। उनका मानना था कि जबतक इन विचारधाराओं के खिलाफ अन्त तक लड़ाई नहीं चलाई जायेगी, भारत में जनतंत्र का भविष्य सुरक्षित नहीं हो सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय उन्होंने फासीवाद विरोधी मोर्चा की पुरजोर वकालत करते हुए कांग्रेस की इस बात के लिये आलोचना की कि वह ब्रिटेन के मुश्किलों का फायदा उठाना चाहती है। राय एक बार फिर गांधी को समझने में भूल कर गये, लेकिन यह दूसरा मामला है।

आश्चर्य नहीं कि राय की रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी भारतीय राजनीति में थोड़ा भी आगे नहीं बढ़ सकी। उनकी असफलता भी उतनी ही बड़ी साबित हुई। ऐसा मालूम पड़ता था कि उनका राजनैतिक इतिहास, उनके दार्शनिक यात्रा की तैयारी थी। अपने ऐश्वर्यशाली राजनैतिक जीवन के इस निस्तेज अंत से उन्हें थोड़ा भी पाश्चाताप नहीं था। वे राजनीति से मुक्त होना चाहते थे। अपनी कष्ट साध्य जिन्दगी एवं स्व विश्लेषण के दौरान उन्होंने अपने सहयोगियों से कहा (जो उनकी राजनीति के प्रति शंकालू हो रहे थे) कि मैं राजनीति में बहुत बेचैनी महसूस करता हूँ। मैं पानी से बाहर रहने वाली मछली की तरह अनुभव करता हूँ। लेकिन अपने प्रारंभिक जीवन से ही इस झंझावात में शामिल हो जाने के बाद, इससे निकल नहीं पा रहा हूँ। अब समय आ रहा हैं, जब मैं ऐसा कर सकूँगा।[26]

शीघ्र ही वह समय आ गया। राजनीति से उन्होंने अवकाश ग्रहण कर लिया और नवमानवतावाद को परिभाषित करने में अपना पूरा ध्यान लगा दिया। नवमानवतावाद के दर्शन के मुताबिक दलीय राजनीति की असंगतता के चलते "रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी" 1948 में भंग कर दी गई। मानवतावादी आन्दोलन को निर्देशित करने के लिये नवमानवतावाद, एक नये नवजागरण की हुंकार है जो विश्व को वर्तमान संकट से मुक्त करेगा और एक अच्छी जिंदगी सामने आयेगी । 1954 में अपनी मृत्यु तक उन्होंने अपनी पूरी ऊर्जा नवमानवतावाद के प्रचार और उसे और आगे बढ़ाने में लगाया।

संदर्भ ग्रन्थसूची

1. हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया ले. आर. सी. मजूमदार, खंड II, पृ. 167.
2. वही, खंड एए पृ. 423.
3. द प्रफेट ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, ले. कर्ण सिंह, पृ. 82.
4. वही, पृ. 90.

5. वही, पृ. 89.
6. वही, पृ. 53.
7. वही, खंड I, पृ. 458.
8. एम. एन. राय मेमोयर्स, पृ. 98.
9. रिसजेन्स ऑफ इंडिया, शिशिर मित्रा, पृ. 367.
10. मेमोयर्स, पृ. 3.
11. वही, पृ. 7.
12. वही, पृ. 14.
13. वही, पृ. 27.
14. वही, पृ. 28.
15. वही, पृ. 29.
16. वही, पृ. 62.
17. वही, पृ. 59.
18. वही, पृ. 61.
19. वही, पृ. 71.
20. वही, पृ. 195.
21. वही, पृ. 212.
22. वही, पृ. 214.
23. द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया एण्ड इट्स फार्मेशन एवोर्ड, मुजफ्फर अहमद, पृ. 87-88.
24. एम. एन. राय एण्ड रेडिकल ह्यूमनिज्म, ले. जी. पी. भट्टाचार्य, पृ. 2.
25. एम. एन. राय एण्ड कमिनटर्न, ले. जे. पी. हैथोयेक्स, पृ. 144.
26. सर्वोदय सोशल आर्डर, जयप्रकाश नारायण, पृ. 91.

भारन में साझा सरकार की प्रचलनः एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

विभा कुमारी

जेडी महिला कॉलेज, राजनीति विज्ञान विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध-गया, बिहार

शोध-सार

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। यहां प्रत्येक पांच वर्ष की अवधि के बाद लोकसभा और विधानसभा चुनाव होते हैं। इन चुनावों के माध्यम से जनता अपने प्रतिनिधि को चुनती है, जो केन्द्र और राज्य स्तर पर सरकार का गठन करते हैं, भारतीय लोकतंत्र में बहुदलीय व्यवस्था का प्रावधान है, इसलिए कई बार किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पाता। इससे राजनीति अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। अतः उक्त परिस्थितियों में गठबंधन सरकार की स्थापना की जाती है। पिछले कुछ दशकों से भारतीय राजनीति में गठबंधन सरकार का वर्चस्व रहा है। ऐसे में "गठबंधन सरकार" की विशेषताओं, उसकी सफलता और असफलताओं की सम्भावनाओं को जानना आवश्यक हो जाता है।

मूल शब्दः- भारत, गठबंधन, राजनीति, शासन, प्रशासन, सार्थकता

प्रस्तावनाः

गठबंधन उस प्रक्रिया को कहा जाता है, जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अथवा दल किसी विशेष उद्देश्य की पुष्टि हेतू अस्थायी रूप से अल्पकाल के लिए जुडते हैं। राजनीति के संदर्भ में गठबंधन का आशय दो या दो से अधिक दलों का मेल है। "ए डिक्शनरी ऑफ पॉलिटिक्स थॉट" रोजर स्कटन के अनुसार राजनीति के सम्बंध में गठबंधन को परिभाषित करते हुए लिखा हैः विभिन्न दलों या राजनीति पहचान रखने वाले प्रमुख व्यक्तियों का आपसी समझौता गठबंधन कहलाता है।

गठबंधन सरकार की विशेषताएं यह होती है कि इसमें किसी एक पार्टी का वर्चस्व नहीं होता। वह समान विचारधारा, उद्देश्य, नीति, कार्यक्रम आदि रखने वाली पार्टियों का समूह होता है। गठबंधन सरकार की सफलता अथवा असफलता उन सभी पार्टियों के पारस्परिक सहयोग एवं विचारधारा पर निर्भर करती है। साधारण गठबंधन सरकार की आवश्यकता तब अनुभव होती है, जब किसी भी एक राजनीति दल को स्पष्ट तथा अनिवार्य जनादेश नहीं मिलता। गठबंधन सरकार की संकल्पना विश्व स्तर पर व्यापक रूप से दिखाई पड़ती है। आज ब्रिटेन, जर्मनी, आस्टेलिया, बेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, फिनलैंड, इण्डोनेशिया, आयरलैंड, इजराइल, जापान आदि सहित कई दशों में गठबंधन सरकार साझा कार्यक्रम बनाती है और उसका सामुहिक उत्तरदायित्व होता है। इस सरकार द्वारा लिए

गए निर्णय उसके विभिन्न घटक राजनीतिक दलों के निर्णय माने जाते हैं, इसलिए कोई भी कार्य करने से पूर्व या कोई भी नीति निर्धारित करने से पूर्व सभी राजनीतिक दल विचार-विमर्श करते हैं। इससे देश की जनता के हित में अधिकारिक निर्णय लिए जाते हैं। गठबंधन सरकार का स्थायित्व हमेशा संदेहास्पद होता है क्योंकि इसमें विभिन्न मतों को अपनाने वाले राजनीतिक दल सम्मीलित होते हैं और सरकार में सम्मीलित भी निहित स्वार्थवश ही होते हैं। राजनीतिक दल सरकार की स्थापना के लिए गठबंधन प्राय: निर्वाचन के बाद ही करते हैं। किन्हीं भी दो दलों का राजनीतिक मुद्दा निर्वाचन के दौरान एक समान नहीं होता है। वे गठबंधन तो मंत्रिमंडल के गठन के लिए करते हैं। गठबंधन के बाद विभिन्न राजनीतिक दलों में नेतापद और मंत्रिपरिषद् के लिए तनाव उत्पन्न हो सकता है। सरकार के गठन के बाद गठबंधन में शामिल सभी राजनीतिक दल अपनी नीतियों को प्रभावी बनाने की कोशिश करेंगे और अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहेंगे। ऐसे में तो राजनीतिक दल शिक्तशाली होगा, वह सरकार पर हावी हो जाएगा और अन्य दलों में वैमनस्यता की भावना आ जाएगी। ऐसे में संभव है कि क्षुब्ध राजनीतिक दल गठबंधन से अपना समर्थन वापस ले लें और सरकार गिर जाए।

गठबंधन सरकार की परिस्थितियां गठबंधन प्रक्रिया की उत्पति में समाज का मूलभूत परिवर्तन भी प्रमुख कारक है। जब कोई समाज परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है, तब वह ऐसी परिस्थितियों उत्पन्न कर देता है कि गठबंधन अनिवार्य बन जाता है। फिर राजनीति तो सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज होती है। आज कोई भी समाज स्थिर नहीं है, भारत के परिपेक्ष में तो यह ध्रुव सत्य ही है आज की तारीख में भारतीय समाज आज न केवल जाति, धर्म और अमीर-गरीब (आर्थिक) के आधार पर बंटा हुआ है, बल्कि वर्ग, जीवन शैली और पेशे के आधार पर बंट रहा है। यह सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विभाजन निर्वाचन को काफी हद तक प्रभावित करता है और किसी एक राजनीतिक दल के लिए बहुमत प्राप्त कर पाना मुश्किल हो जाता है। क्योंकि किसी एक राजनीतिक दल द्वारा इस विभाजन को पाट पाना दुष्कर होता है। फिर जो राष्ट्रीय स्तर के दल होते हैं, वे क्षेत्रिय राजनीति में सक्रियता नहीं दिखाते हैं। क्षेत्रिय स्तर पर व्यक्तिवाद हावी होता है या क्षेत्रिय दल प्रभावी होते हैं। ऐसे में मतदाता जो उनके हितों के अधिक अनुकूल सिद्ध होते हैं, उन्हें ही अपना मत देना पसंद करते हैं। वे यह नहीं देखते हैं कि राष्ट्रीय स्तर पर किसी दल को बहुमत मिलने जा रहा है या नहीं। इन परिस्थितियों में मत बंट जाता है और किसी भी एक दल को बहुमत नहीं मिला पाता है जिससे गठबंधन अनिवार्य हो जाता है।

गठबंधन सरकार राज्य में भारत में गठबंधन सरकार की व्यवस्था है। भारतीय लोकतंत्र बहुत ही लचीला तथा परिवर्तनशील है। यहां स्वतंत्र ता के कुछ वर्षों पश्चात् ही गठबंधन सरकार की स्थापना प्रक्रिया अस्तित्व में आ गई थी। भारत में पहली गठबंधन सरकार की स्थापना वर्ष 1953 में राज्य स्तर पर हुई थी इसके अन्तर्गत आन्ध्रप्रदेश में संयुक्त मंत्रिमंडल की स्थापना की गई थी हालांकि यह मंत्रिमहल 13 महिने की छोटी सी अवधि में विघटित हो गया। इसके बाद वर्ष 1957 में उडिसा में राज्य में गठबंधन सरकार का गठन हुआ, लेकिन इसका कार्यकाल पूरा होने के पूर्व ही वर्ष 1961

में इसका विघटन हो गया। 1967 में पश्चिम बंगाल में भी यही प्रयोग हुआ, जो असफल ही रहा। बाद में वहां राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा। 21 मार्च 1997 को उतरप्रदेश में भारतीय जनता पार्टी और बहुजन समाज पार्टी के गठबंधन वाली सरकार अस्तित्व में आई इस सरकार ने गठबंधन की राजनीति में एक नवीन प्रयोग किया, जिसके अनुसार गठबंधन को 6-6 महिने के लिए नेतृत्व का अवसर मिलना था, लेकिन यह प्रयोग भी सफल नहीं रहा। यद्यपि गठबंधन सरकारों की सपफलता सदेव संदिग्ध बनी रहती है। फिर भी समयानुसार केरल, महाराष्ट्र जम्मू-काश्मीर, पश्चिम बंगाल, पंजाब, झारखंड, नागालैंड तथा पुडुचेरी में गठबंधन सरकारें सत्तारत रही थी। वर्तमान समय में कर्नाटक में देखने को मिल रही है।

गठबंधन सरकार की स्थापना केन्द्र में केन्द्र में गठबंधन की सरकार की प्रक्रिया काफी बाद शुरू हुई। आरंभिक दौर में तीन दशकों में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत मिला, क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति में कांग्रेस की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी। कांग्रेस पार्टी के प्रभाव से उस दौरान राष्ट्रीय स्तर पर किसी राजनीतिक दल को उभरने का मौका नहीं मिल पाया। धीरे-धीरे जनता ने कांग्रेस का विकल्प ढुंढंना आरम्भ कर दिया, फलस्वरूप 1977 में पहली बार केन्द्र में सत्ता परिवर्तन हुआ। 1977 के आम चुनाव में किसी भी राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला और जनता पार्टी के नेतृत्व में केन्द्र में पहली बार गठबंधन की सरकार की स्थापना हुई। उस समय गठबंधन सरकार की स्थापना के किन्हीं भी दो राजनीतिक दलों को नीतिगत विचारधारा नहीं थी, लेकिन इन्दिरा गांधी द्वारा आपातकाल लागू किए जाने के विरोध में एकजुट हुए थे। और वह 14 जनवरी 1980 को ही विघटित हो गई थी। इसके बाद गठबंधन सरकार की संयुक्त मोर्चा के नेतृत्व में 1989 में हुई। फिर 1990 और 1996 में क्रमश जनता दल नशनल फ्रंट, समाजवादी जनता पार्टी कांग्रेस और जनता दल यूनाइटेड फ्रंट के गठबंधन की सरकार अस्तित्व में आई, परन्तु ये सभी सरकारें निर्धारित समय पूरा करने में असफल रही। केन्द्र स्तर पर सबसे अधिक सफल गठबंधन एनडीए 19 मार्च 1998-22 मई 2004 और यूपीए 1,222 मई 2004-26 मई 2014 तक रहा है। वर्तमान समय में केन्द्र में एनडीए गठबंधन की सरकार सत्ता में है। भारत में दो राज्य ऐसे हैं, गठबंधन की सरकार को सबसे बड़ी सफलता मिली पश्चिम बंगाल, केरल में मिली है। इस सफलता मिली पश्चिम बंगाल में गठबंधन का नेतृत्व मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी करती है तो केरल में कांग्रेस और साम्यवादी में से कोई एक इन राज्यों में पहले ही किया जाता है जो बहुत हद तक समान है।

गठबंधन सरकार में महत्वपूर्ण पहलू भारत जैसे विकासशील देश में जहां एक बड़ा वर्ग अशिक्षित है वहां गठबंधन सरकार कितनी प्रासंगिक है। गठबंधन सरकार के अच्छे और बुरे, दोनों ही पक्ष है। भारतीय इतिहास पर नजर डाली जाए तो भारत में कई बार बहुमत प्राप्त दलों ने ही सत्ता संचालन किया है, लेकिन उनसे जनता को आशातित परिणाम नहीं मिले, इसलिए जनता ने विकल्पों की खोज की इस प्रक्रिया में किसी एक पार्टी द्वारा सरकार का गठन सम्भव नहीं हुआ। इससे सभी पार्टियों को भी यह समझ आ गया कि यदि वे जनता की आशाओं पर खरे नहीं उतरेंगे उनकी उपेक्षा करेंगे, तो

वह उसे दोबारा सत्ता में आने का अवसर ही नहीं देंगे। इस प्रकार, गठबंधन सरकारों ने सभी दलों पर राजनैतिक दबाव बनाया गया। गठबंधन सरकार किसी भी एक पार्टी की विचारधारा तथा कार्यशैली तानाशाही परिवर्तन नहीं हो पाती।

गठबंधन सरकार के सकारात्मक पक्ष जैसे इसमें क्षेत्रिय विभिन्नताओं तथा उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता है, निर्णय लेने में जनता को महत्व दिया जाता है, निर्णय लेने में बड़े वर्ग का ध्यान रखा जाता है, सिद्धान्तों को अधिक महत्व दिया जाता है। कोई भी निर्णय अच्छी तरह सोच-समझकर लिया जाता है।

गठबंधन सरकार का नकारात्मक पक्ष गठबंधन सरकार का स्थायित्व हमेशा संदेहास्पद होता है, क्योंकि इसमें विभिन्न मतों को अपनाने वाले राजनीतिक दल सम्मिलत होते हैं। जो अपने निहित स्वार्थवश ही आपस में जुड़े होते हैं. ऐसे में कभी भी सरकार के गिरने का खतरा रहता है जैसे यूपीए-2 के शासनकाल में बार-बार उसे विभिन्न दलों से समर्थन वापस लेने की धमकी मिलती रहती है। गठबंधन की अस्थिरता के कारण यदि सरकार गिर जाती है, तो बहुत कम अवधि में पुनः चुनाव कराने पड़ते हैं। इस प्रक्रिया में धन का बहुत अपव्यय होता है, जिसका भार अप्रत्यक्ष रूप से जनता को उठाना पडता है। इसके अतिरिक्त गठबंधन सरकार के लिए कोई भी निर्णय ले पाना बहुत कठिन होता है क्योंकि उससे विभिन्न दलों की विचारधारा से सामंजस्य स्थापित करना पडता है। इससे समय की बर्बादी बहुत होती है। कई बार सरकार को बचाए रखने के लिए तुष्टिकरण की नीति भी अपनानी पडती है। जिससे

भ्रष्टाचार तथा अनैतिकता को बढ़ावा मिलता है और योग्य व्यक्तियों को महत्व नहीं दिया जाता एक तो लोकतंत्र में विकास और फैसले लेने की प्रक्रिया वैसे ही धीमी होती है।

शोध का उद्देश्यः-

1. गठबंधन के सरकारों की क्या सीमाएँ है और भारत के सामाजिक राजनैतिक पृष्ठभूमि में आगे उनका क्या भविष्य है? इसका अवलोकन करना।
2. भारत में अभी तक कितनी बार गठबंधन सरकारें बनी और विघटित हुई इनके कारणों का अवलोकन करना
3. गठबंधन की सरकार के कारण सामाजिक समानता का मुखर होना।
4. शोध कार्य के द्वारा यह भी जानने का प्रयास करना की गठबंधन की सरकार आज भारतीय राजनीति की अनिवार्यता बन गई है।

साहित्य समीक्षाः-

1. रजनी कोठारी, "इंडियाज पोलिटिकल ट्रांजिशन", इकोनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली, विशेष अंक, में अगस्त 1967 इसमें मैने राजनैतिक अस्थिरता को दूर करने के लिए मध्यावधि चुनाव का समर्थन किया है।

2. मोरिंग जोस और भी दासगुप्त "इंडियाज पोलिटिकल एरिया इंटिरोग रिपोर्ट आन एन इकोलाजिकल एलेक्टरल इनवेस्टिगेशन" एशियन सर्व 9 नं. 6. जून 1969, यह विश्लेषण, ऐन हावर मिशिगन में हुए डाटा कनफ्रटेशन सेमिनार में हुआ था। इसके लिए आंकड़े रोटर फॉर स्टडीज ऑफ डेवलपिंग सोसाइटीज, दिल्ली में एकत्र किए थे।

3. रामाश्रय राय और चंडीदास, ''कटेस्ट ऑफ एलेक्टोरल चेंज' (सेंटर फॉर स्टडी ऑफ डेवलपमेंट सोसायटी) इस में मद्रास में द्रमुक के चुनाव आंदोलन में इसका परिचय मिला। द्रमुक का यह नारा था कि कांग्रेस के पास वोट दिलाने वाले हैं, और हमारे पास वोट है।

शोध की विधिः

इस शोध को पूरा करने के लिए विश्लेषणात्मक एवं अनुभवात्मक विधियों को प्रयोग में लाया जायेगा। सैद्धान्तिक पक्ष के लिए पुस्तकों, पत्र- पत्रिकाओं तथा शोध क्रियाओं जैसे प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों के माध्यम से सामग्री एकत्र की जायेगी तथा व्यवहारिक पक्ष के लिए अनुभवात्मक विधियों, सर्वेक्षण, प्रश्नावली, साक्षात्कार इत्यादि प्राथमिक स्रोतों का प्रयोग किया जाएगा।

निष्कर्षः-

गठबंधन सरकार के जितने सकारात्मक पक्ष हैं, उतने ही नकारात्मक पक्ष भी हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसकी सफलता पर संदेह बना रहता है और सरकार स्वतंत्र रूप से कोई भी निर्णय लेने से पहले कई बार सोचती है शायद भारतीय जनता भी इस ओर ध्यान देने में केन्द्रित करने करने पर मजबूर हुई है, तभी तो उसने 16वीं लोकसभा के चुनावों में नरेन्द्र मोदी की अगुवाई वाली भारतीय जनता पार्टी को स्पष्ट जनादेश दिया है। आशा है कि यह सरकार जनता की उम्मीदों पर खरी उतरेगी, ताकि जनता को फिर से गठबंधन वाली सरकार पर विचार न करना पडे।

संदर्भ सूची

1. हरिवंश और फैसल अनुराग (संपादित) झारखंड सुशासन अब भी संभावना है, नई दिल्ली प्रकाशन संस्थान, 2008
2. कुमार प्रभात, गिरीश कुमार गवर्नेस विकास का नया नियामक, हरिवंश और फैसल अनुराग (संपादित) झारखंड सुशासन अब भी संभावना है. नई दिल्लीः प्रकाशन संस्थान, 2008
3. चक्रवर्ती विद्युत और प्रकाश चंद, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन ए ग्लोबलाइजिंग वर्ल्ड नई दिल्लीःसेज, 2012
4. सिन्हा, मनोज (सापादित). प्रशासन एवं लोकनीति, नई दिल्ली ओरियंट ब्लैकस्वान, 2010
5. श्रीकांत, बिहार में चुनाव जाति, हिंसा और बूथ लूट
6. राय गांधी जी, राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय संविधान
7. प्रसाद विश्वनाथ, "कोलिशन पॉलिटिक्स इन इंडिया" रिव्यु ऑफ पालिटिक्स वाल्युम-ट, नं ०-2 जुलाई दिसम्बर 1997 वी०के०एस० युनिवर्सिटी आरा
8. राइकर विलियम एम, "द थ्योरी ऑफ पॉलिटिक्स कोलिशन" येल युनिवर्सिटी प्रेस हेबेन

9. तिवाना एस०एस० कॉलिशन पॉलिटिक्स इन इंडिया, प्रॉब्लम्स एंड प्रोस्पेक्टस", पेपर प्रेजेन्टेड एट मेम्बर्स ऐनुअल कॉन्फ्रेन्स ऑफ आई०आई०पी०ए०, न्यु डेल्ही, 1996
10. मेस्वायुटा, बुस बीना, "स्ट्रैटजी, रिस्क एंड पर्सनाल्टी इन कॉलिशन पॉलिटिकस, द केस ऑफ इंडिया", कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, लंडन, 1975, पी० 151-152
11. गैडगिल, वी०एन०, कॉलिशन पॉलिटिक्स, इन इंडिया एंड ऐबरॉड, कॉलिशन गवर्मेंट एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया, एडिटेड बाई सुभाष सी० कश्यप, उप्पल पब्लिशिंग हाउस, न्यु दिल्ली, 1997
12. महोश्वारी, एस०आर०, "कॉलिशन, गवर्मेंट्स: 1946-1996 कॉलिशन गवर्मेंट एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया", एडिटेड बाई सुभाष सी० कश्यप, उप्पल पब्लिशिंग हाउस, न्यु दिल्ली, 1997
13. कुमार अरुण, "ऑन कॉलिशन कोर्स", प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया ग्यान पब्लिशिंग हाउस, न्यु दिल्ली, 1998
14. मेस्क्युटा, ब्रुस ब्युना, "स्ट्रैटजी, रिस्क एंड प्रसनालिटी इन कॉलिशन पॉलिटिक्स द केस ऑफ इंडिया", कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, लंडन, 1975, पेज 87-88

भारत में जमीनी जनतंत्र: पंचायती राज व्यवस्था

चन्दन कुमार

सीनियर रिसर्च फेलो, राजनीति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में व्यापक राजनीतिक सहभागिता एवं व्यापक विकास के लिए स्थानीय शासन व्यवस्था को स्थापित किया गया है। भारत में शासन के तीन स्तर है - केन्द्रीय स्तर, राज्य स्तर एवं स्थानीय स्तर। तीसरे स्तर जिसे स्थानीय स्तर कहा गया है, के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्र के लिए पंचायती राज व्यवस्था तथा नगरीय क्षेत्रों के लिए नगर पंचायत/नगरपालिका/नगर निगम की व्यवस्था की गई है। जिनका मुख्य उद्देश्य स्थानीय समस्याओं का समाधान तथा व्यापक राजनीतिक भागीदारी सुनिश्चित करना है।

स्थानीय स्वशासन का अर्थ है कि स्थानीय क्षेत्रों का प्रशासन वहां के निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा चलाया जाए। स्थानीय स्वशासन में जनता की सीधी भागीदारी होती है। इसलिए उसे स्थानीय स्वशासन का नाम दिया जाता है। स्थानीय स्वशासन 'सत्ता के विकेन्द्रीकरण' पर आधारित एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था है।

पंचायतों का इतिहास

प्राचीन भारत में पंचायतें

भारत में प्राचीन काल से ही पंचायती संस्थाओं का अस्तित्व रहा है। भारत में वैदिक काल में ग्राम, प्रशासन का उत्तरदायित्व पंचायतों पर ही था जो गांव के प्रमुख व्यक्तियों की सहायता से कार्य करता था। मौर्यकाल में स्थानीय शासन बहुत विकसित था। कौटिल्य ने ग्रामशासन के सन्दर्भ में 'अर्थशास्त्र' में पर्याप्त चर्चा की है। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है कि ''विशाल साम्राज्य में एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना होते हुए भी ग्राम शासन को अपने विषयों में पूर्णत: स्वतंत्रता प्राप्त थी। यह स्थानीय शासन के लिए नियम कानून तय करती थी।'' मौर्य काल में ग्राम, शासन की सबसे निचली ईकाई थी, जिसका शासक 'ग्रामिक' कहलाता था। इसके साथ ही अन्य अधिकारियों का विवरण मिलता है। मौर्य काल के इन अधिकारियों के लिए 'स्थानीय उत्तरदायित्व का सिद्धान्त' लागू किया गया था।

गुप्त काल में ग्राम प्रशासन के लिए 5 सदस्यीय समितियों की स्थापना की गई थी और इनको पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। डॉ० अल्तेकर ने गुप्त प्रशासन के बारे में लिखा है - ''गुप्तकालीन शासन प्रणाली तथा उसकी उपलब्धियों के विषय में हमारे पास विस्तृत साक्ष्य उपलब्ध है जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह केन्द्र, प्रांत एवं स्थानीय स्तर पर बहुत ही सुव्यवस्थित थी।'' चोल प्रशासन में तो ''पूर्ण स्वायत्त'' ग्रामीण शासन की पूर्ण व्यवस्था।

राजपूतकालीन समय में ग्राम, प्रशासन की सबसे छोटी ईकाई थी। ग्राम का प्रबंध ग्राम सभाओं द्वारा सम्पन्न किया जाता था। प्रत्येक ग्राम की एक सभा होती थी जो अपने क्षेत्र में शासन का समस्त कार्य संभालती थी।

सल्तनत कालीन प्रशासन मूलतः सैनिक था और सुल्तान निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी थे। इस काल में नगर प्रशासन केन्द्रीकृत नौकरशाही द्वारा संचालित था, किंतु गांव अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र थे।

मुगलशासन काल में भी ग्राम स्वायत्त शासन के सबसे महत्वपूर्ण निकाय थे। गांवों का प्रबंध पंचायते करती थी तथा पंचायते ही स्थानीय मामलों के सन्दर्भ में फैसला लेती थी। गांवों में तीन प्रमुख पदाधिकारी होते थे - मुकद्दम, पटवारी और चौधरी। बाद के मुस्लिम शासनकाल में स्थानीय संस्थाओं की स्थिति में परिवर्तन देखने को मिलता है। इस काल की स्थानीय संस्थाए प्राचीन भारत के स्थानीय संस्थाओं के समान स्वतंत्र एवं लोकतांत्रिक नहीं थी।

ब्रिटिशकाल में स्थानीय स्वशासन

यद्यपि भारत में स्थानीय शासन प्राचीन काल से ही विद्यमान था, किन्तु वर्तमान संगठन एवं कार्य प्रणाली के रूप में उसका प्रादुर्भाव ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही हुआ है। न तो प्राचीन युग में प्रचलित ग्रामीण स्वशासन की व्यवस्था में और न ही उस समय की नगरीय शासन प्रणाली में ही ऐसा शासन देखने को मिलता था जिसका समय-समय पर निर्वाचन होता हो, और जो निर्वाचकगण के प्रति उत्तरदायी हो। ऐसी व्यवस्था का विकास पश्चिम में हुआ और ब्रिटिश सरकार ने भारत में उसका सूत्रपात किया था। ''स्थानीय स्वशासन का अर्थ ऐसा प्रतिनिधि संगठन है जो एक निर्वाचक मण्डल के प्रति उत्तरदायी हो, प्रशासन तथा करारोपण की-विस्तृत शक्तियों का उपभोग करता हो और उत्तरदायित्व की शिक्षा देने वाली पाठशाला तथा किसी देश के शासन का निर्माण करने वाले अवयवो की श्रृंखला की महत्वपूर्ण कड़ी, इन दोनों रूपों में कार्य करता हो। प्राचीन ग्रामीण समाजों का निर्माण वंशानुगत विशेषाधिकार अथवा जाति के आधार पर होता था, उसका कार्यक्षेत्र अत्यधिक सीमित था, राजस्व वसूल करना तथा जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना उनके मुख्य काम थे, वे न तो राजनीतिक शिक्षा के सजग साधन थे और न ही प्रशासनिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग थे।''[1]

अंग्रेजी शासन काल में ग्रामीण प्रशासन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। धीरे-धीरे ग्रामीण प्रशासन का स्रोत पंचायती संस्थाएं समाप्त होने लगी। सभी कार्य प्रादेशिक सरकारें करने लगी। जमींदारों को ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ अधिकार दिये गए। 1882 के पूर्व तक स्थानीय शासन पूर्णतः अभारतीय बना रहा, इसलिए भारतीय दृष्टिकोण से यह बहुत अंशों में न तो 'स्थानीय' था और न 'स्वशासी'। इस बीच भारतीयों में राजनीतिक चेतना का प्रसार हुआ, जिसने नवीन आकांक्षाओं को जन्म दिया। लार्ड मेयो के बाद लार्ड रिपन गर्वनर जनरल नियुक्त हुआ। उसने 1882 में स्थानीय स्वशासन को स्वशासी बनाने का प्रस्ताव किया। उसे स्थानीय शासन के नवीन दर्शन के प्रतिपादन का श्रेय दिया जाता है। उसकी दृष्टि में स्थानीय शासन प्रधानतः 'राजनीतिक तथा सार्वजनिक शिक्षा का एक साधन' था। जिस प्रस्ताव में इन सिद्धान्तों का समावेश किया गया उसे एक महान अधिकार पत्र और उसके प्रणेता लार्ड रिपन को भारत में स्थानीय स्वशासन का जनक कहा गया।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान सर्वप्रथम कांग्रेस द्वारा ग्रामीण प्रशासन के लिए पंचायतों को पुनर्जीवित करने की मांग सन् 1909 के लाहौर अधिवेशन में रखी गई। 14 फरवरी 1916 को गांधी जी ने इस मांग को मद्रास मिशनरी सम्मेलन में पुनः उठाया। ब्रिटिश शासकों ने ग्रामीण प्रशासन की स्थिति की जांच तथा उनके सन्दर्भ में सिफारिश करने के लिए सन् 1882, 1907 एवं 1920 में शाही आयोग नियुक्त किये। शाही आयोग ने ग्रामीण प्रशासन के विकास पर बल दिया। सन् 1920 में संयुक्त प्रांत, असम, बंगाल, बिहार, मद्रास और पंजाब में ग्रामीण उत्थान के लिए पंचायतों की स्थापना के लिए कानून बनाये गए।

स्वतंत्र भारत में स्थानीय स्वशासन

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महात्मा गांधी के ग्राम स्वराज के स्वप्न को साकार करने के लिए संविधान निर्माताओं ने संविधान में अनुच्छेद 40 को सम्मिलित किया। इस अनुच्छेद के अनुसार ''राज्य ग्राम पंचायतो का गठन करने के लिए कदम उठायेगा तथा उन्हें ऐसी शक्तियां प्रदान करेगा, जो उन्हें स्वायत्त शासन की ईकाई के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो।''[2] परन्तु यह अनुच्छेद संविधान के भाग-3 के मूल अधिकारों में शामिल नहीं किया गया बल्कि इसे भाग-4 के नीति निदेशक तत्वों (Directive Principles of State Policy) में सम्मिलित किए जाने से इस दिशा में कोई कानून बनाने की पहल नहीं की गई। उल्लेखनीय है कि 'स्थानीय स्वशासन' (Local Self Government) जिसके अन्तर्गत ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्र दोनों ही आते है अनन्य रूप से राज्य सूची का विषय है।

2 अक्टूबर, 1952 को प्रधानमंत्री नेहरू द्वारा पंचायती राज एवं सामुदायिक विकास मंत्रालय के तत्वाधान में 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम के अधीन विकासखण्ड को ईकाई मानकर ब्लाक (Block) में विकास हेतु सरकारी कर्मचारियों के साथ-साथ सामान्य जनता को जोड़ने का प्रयास किया गया लेकिन सामान्य जनता को अधिकार न दिये जाने के कारण यह कार्यक्रम सरकारी अधिकारियों तक सीमित रह गया और किल हो गया। 2 अक्टूबर 1953 को 'राष्ट्रीय प्रसार सेवा' कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया, किन्तु वह भी असफल सिद्ध हुआ।

पंचायतों से संबंधित गठित प्रमुख समितियाँ (Various Committes Related to Panchayat)

स्वतंत्रता के बाद पंचायतों की आर्थिक स्थिति मजबूत करने के लिए समय-समय पर विभिन्न समितियों का गठन किया गया जो इस प्रकार है-

बलवंतराय मेहता समिति 1957

'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' की किलता के बाद बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया इस समिति की प्रमुख स्फारिशे निम्न प्रकार थी-

- त्रिस्तरीय पंचायत राज संस्थाओं की स्थापना की जाए, जिसके अन्तर्गत ग्राम स्तर पर 'ग्राम पंचायते' ब्लाक स्तर पर 'पंचायत समितियां' तथा जिला स्तर पर 'जिला परिषद्' का गठन हो।
- प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण (Democratic Decentralization) की मूल ईकाई प्रखण्ड या समिति स्तर पर हो।

पंचायती राज का शुभारम्भ

मेहता समिति की स्फारिश के आधार पर प्रधानमंत्री नेहरू ने स्वतंत्र भारत में सर्वप्रथम 2 अक्टूबर, 1959 को राजस्थान के नागौर जिले में 'प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण' की योजना का शुभारम्भ/उद्घाटन किया जिसे 'पंचायती राज' कहा गया। इस अवसर पर पंडित नेहरू ने इसे नए भारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक कदम बताते हुए कहा था कि ''याद रखो यह एक ऐतिहासिक कदम है जैसे-जैसे कदम उठे, अंग्रेजी राज्य खत्म हो कर यहां स्वराज्य आया, रजवाड़े अलग हुए। वह भी एक जनता के राज्य में शरीक हुए जागीरदारी प्रथा का अन्त हुआ। अब जनता के हाथ में सारी बागडोर आ गई है। पहले दो चीजे थी, राजा और प्रजा, अब वो दो चीजे नहीं रही। क्योंकि राजा भी प्रजा हो गया, और प्रजा राजा हो गई। आज से पंचायती राज की शुरूआत हो गई

है।''[3] उल्लेखनीय है कि 'पंचायती राज' का श्री गणेश राजस्थान के नागौर में 02 अक्टूबर 1959 को पंडित नेहरू द्वारा निम्न उद्देश्यों के लिए किया गया - गांवों के लोग अपने शासन का उत्तरदायित्व स्वयं संभालेगें। यह आवश्यक है कि ग्रामीण जन कृषि, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा, सिंचाई, पशुपालन, परिवहन बाजार हाट आदि से संबंधित विकास प्रक्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग ले उन्हें यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वे अपनी आवश्यकताओं और अनिवार्यताओं के विषय में स्वयं ही निर्णय ले सके। लोग अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से स्थानीय नीतियों का निर्धारण करे और जनता की वास्तविक आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए कार्यक्रम को लागू करे।[4]

अशोक मेहता समिति, 1977

बलवंत राय मेहता द्वारा की गई स्किारिशों में आई कमियों को दूर करने के लिए वर्ष 1977 में अशोक मेहता की अध्यक्षता में पंचायती राज समिति का गठन किया गया। इस समिति ने सन् 1978 में अपनी रिपोर्ट केन्द्र सरकार को प्रस्तुत की जिसकी प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार थी-

- पंचायते दो स्तर पर गठित हो जिसके अन्तर्गत जिला स्तर पर 'जिला परिषद' तथा ब्लाक स्तर पर 'मण्डल पंचायत' हो।
- ग्राम स्तर पर पंचायतों का गठन न किया जाए।
- ग्राम पंचायत के स्थान पर 'मण्डल पंचायत' हो जिसकी जनसंख्या 15 से 20 हजार हो।
- सभी विकास योजनाएं जिला परिषद द्वारा तैयार किया जाए और उनका क्रियान्वयन 'मण्डल पंचायत' द्वारा होना चाहिए।
- राज्य स्तर पर पंचायती राज वित्त आयोग हो।
- जिला परिषद को 'लघु सचिवालय' का रूप दिया जाए।

जे.के. वी. राव समिति, 1985

''ग्रामीण विकास एवं उन्मूलन से संबंधित, प्रशासनिक, व्यवस्था'' पर सिफारिश करने के लिए सन् 1985 में जे० के० वी० (J.K.V.) की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इस समिति की सिफारिशे थीं -

- राज्य स्तर पर विकास परिषद् का गठन किया जाए।
- कार्य सम्पादन हेतु जिला परिषदों की विभिन्न समितियों का गठन किया जाए।

एल० एम० सिंघवी समिति, 1986

पंचायती राज संस्थाओं के कार्यो की समीक्षा एवं लोकतंत्र के विकास हेतु पंचायती राज संस्थाओं के पुनर्जीवन पर सन् 1986 में एल.एम. सिंधवी की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इस समिति की प्रमुख सिफारिशे थी -

- पंचायती राज प्रणाली के कुछ पहलुओं को 'संवैधानिक दर्जा' दिया जाए ताकि इन्हें राजनीतिज्ञों व नौकरशाहों के हस्तक्षेप से दूर रखा जा सके।
- ग्राम पंचायतों को अधिक वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराए जाए।

पी.के. थुंगन समिति, 1988

सन् 1988 में पी.के. थुंगन की अध्यक्षता में (जिला नियोजन पर) संसद की एक सलाहकार समिति का गठन किया गया। इस समिति ने पंचायती राज को सशक्त करने के लिए अनेक सिफारिशें की, जिसमें एक प्रमुख सिफारिश थी कि पंचायतों को 'संवैधानिक दर्जा' दिया जाए।

भारत में पंचायती राज के विभिन्न काल

- **उत्थान काल (Phase of Ascendency)** वर्ष 1959 से 1964 तक के पंचायती राज के कार्यकाल को 'उत्थान काल' कहा जाता है।
- **ठहराव काल** (**Phase of Stagnation**) वर्ष 1965 से 1969 तक की कार्य विधि को 'ठहराव काल' कहा जाता है।
- **ह्रास काल** (**Phase of Decline**) वर्ष 1969 से 1983 तक की कार्याविधि को ह्रास काल' माना जाता है।
- **जीवन काल में पुनरोदय** (**Phase of Revival**)- वर्ष 1983 के बाद से पंचायती राज संस्थाओं के जीवनकाल में पुनरोदय शुरू होता है।

64वां संविधान संशोधन विधेयक, 1989[5]

15 मई, 1989 को राजीव गांधी की सरकार ने पंचायतों से संबंधित 64वां संविधान संशोधन विधेयक संसद में प्रस्तुत किया। यह विधेयक लोकसभा में तो पारित हो गया, परन्तु राज्यसभा में पारित नहीं हो सका। वस्तुतः यही वह आधार (विधेयक) है, जो भविष्य में परिवर्धित होकर 73वें संविधान संशोधन के रूप में सामने आया।

73वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1992[6]

73वें संविधान संशोधन विधेयक के रूप में 22 दिसम्बर, 1992 को लोकसभा तथा 23 दिसम्बर 1992 को राज्यसभा द्वारा पारित किया गया, बाद में राष्ट्रपति से स्वीकृति प्राप्त होने पर यह विधेयक 24 अप्रैल, 1993 को अधिनियम के रूप में लागू हुआ। 73वें संशोधन अधिनियम के माध्यम से पंचायतों को संविधान के भाग-9 में शामिल कर संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया तथा संविधान में एक 11वीं अनुसूची जोड़ी गई।

73वें संविधान संशोधन अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ-

1. **ग्राम सभा का गठन**- पंचायत व्यवस्था के तहत एक ग्राम सभा होगी, जो पंचायत व्यवस्था के सबसे निचले स्तर पर होगी।
2. **पंचायतों का गठन** -प्रत्येक राज्य में ग्राम, खण्ड (Block) और जिला स्तर पर त्रिस्तरीय पंचायतों का गठन किया जायेगा परन्तु मध्यवर्ती स्तर पर पंचायतों का गठन उस राज्य में नहीं किया जायेगा जिसकी जनसंख्या 20 लाख से कम है।
3. **पंचायतों की संरचना** -पंचायत के तीनों स्तरों पर सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से होगा, लेकिन अध्यक्ष पद के लिए निचले स्तर पर अर्थात ग्राम पंचायत को छोड़कर खण्ड एवं जिला स्तर पर चुनाव में चुने गए सदस्यों द्वारा अपने में से किया जायेगा।
4. **स्थानों का आरक्षण** :- पंचायत के तीनों स्तरों में अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के सदस्यों का आरक्षण उनकी जनसंख्या के अनुपात में होगा तथा इनमें एक तिहाई आरक्षण महिलाओं का भी होगा।
5. **पंचायतों की अवधि** :- पंचायतों के सभी स्तरों का कार्यकाल 5 वर्ष का होगा लेकिन इससे पहले भी इसका विघटन किया जा सकता है। लेकिन 6 मास के अन्दर चुनाव कराना आवश्यक होगा।

6. **राज्य निर्वाचन आयोग का गठन :**-पंचायतों के लिए कराए जाने वाले सभी निर्वाचनों के लिए और उन सभी निर्वाचनों के संचालन एवं निर्देशन व नियंत्रण हेतु राज्य निर्वाचन आयोग होगा, जो राज्य के राज्यपाल द्वारा नियुक्त होगा।
7. **राज्य वित्त आयोग का गठन :**- प्रत्येक पांच वर्ष की समाप्ति कर राज्यपाल राज्य वित्त आयोग का गठन करेगा, जो पंचायतों की वित्तीय स्थिति का पुनर्विलोकन करेगा।
8. **अधिनियम का कुछ क्षेत्रों में लागू न होना** - यह अधिनियम निम्न क्षेत्रों में लागू नहीं होगा-
   - विशिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों
   - नागालैण्ड, मेघालय और मिजोरम राज्यों में
   - मणिपुर राज्य के ऐसे पर्वतीय क्षेत्रों में जहाँ पर्वतीय परिषद् विद्यमान है।
   - पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले की दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद् पर।
9. **11वीं अनुसूची में कार्यों का उल्लेख**[7]- 73 वें संविधान संशोधन के द्वारा संविधान में एक ग्यारहवीं अनुसूची जोड़ी गई जिसमें कुल 29 विषय है। जो पंचायतों के कार्यों से संबंधित है। यह इस प्रकार है -

1. कृषि (कृषि विस्तार सहित)
2. भूमि सुधार कार्यान्वयन
3. लघु सिचाई, जलप्रबंध
4. पशुपालन, डेयरी
5. मत्स्य पालन
6. सामाजिक एवं फार्म वनोद्योग
7. लघु वन उत्पाद
8. खादी ग्राम व कुटीर उद्योग
9. लघु उद्योग
10. ग्रामीण आवास
11. पेयजल
12. ईधन एवं चारा
13. सड़क, पुल, फेरी मार्ग
14. ग्रामीण विद्युतीकरण
15. गैर पारंम्परिक ऊर्जा स्रोत
16. निर्धनता निवारण कार्यक्रम
17. शिक्षा
18. तकनीकी प्रशिक्षण व व्यावसायिक शिक्षा
19. पुस्तकालय
20. सांस्कृतिक गतिविधियाँ
21. प्रौढ़ व अनौपचारिक शिक्षा
22. बजार व मेले
23. स्वास्थ्य एवं सफाई

24. परिवार कल्याण
25. महिला एवं बाल कल्याण
26. समाज कल्याण
27. कमजोर वर्गों का कल्याण
28. सार्वजनिक वितरण प्रणाली
29. सामुदायिक आस्तियों का अनुरक्षण

संविधान का भाग-IX

पंचायतें: एक दृष्टि में

73वां संविधान संशोधन अधिनियम (1992) द्वारा पंचायतों को संविधान के भाग-9 में शामिल कर 'संवैधानिक दर्जा' प्रदान किया गया। संविधान के इस भाग-9 में कुल 16 अनुच्छेद जोड़े गए है। (अनुच्छेद 243 से 243 ण तक)[8], जो पंचायतों से संबंधित है, यह इस प्रकार है -

- अनुच्छेद 243 : परिभाषाएं
- अनुच्छेद 243 क : ग्राम सभा
- अनुच्छेद 243 ख : पंचायतों का गठन
- अनुच्छेद 243 ग : पंचायतों की संरचना
- अनुच्छेद 243 घ : स्थानों का आरक्षण
- अनुच्छेद 243 ड. : पंचायतों की अवधि
- अनुच्छेद 243 च : सदस्यता के लिए निरर्हताएं
- अनुच्छेद 243 छ : पंचायतों की शक्तियां और उत्तरदायित्व
- अनुच्छेद 243 ज : पंचायतों द्वारा कर अधिरोपित करने की शक्तियाँ
- अनुच्छेद 243 झ : वित्तीय स्थिति के पुनर्विलोकन हेतु वित्त आयोग का गठन
- अनुच्छेद 243 ञ : पंचायतों के लेखाओं की संपरीक्षा।
- अनुच्छेद 243 ट : पंचायतों के लिए निर्वाचन
- अनुच्छेद 243 ठ : संघ राज्य क्षेत्रों को लागू करना।
- अनुच्छेद 243 ड : इस भाग का कुछ क्षेत्रों में लागू न होना
- अनुच्छेद 243 ढ : विद्यमान विधियों और पंचायतों का बना रहना।
- अनुच्छेद 243 ण : निर्वाचन सम्बन्धी मामलों में न्यायालयों के हस्तक्षेप का वर्णन

पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम (Panchayat Extension to Schedule Areas Act (PESA), 1996[9]

73वां संविधान संशोधन अधिनियम 24 अप्रैल 1993 से लागू तो हो गया परन्तु आदिवासी बहुल अनुसूचित क्षेत्रों को इस संविधान संशोधन की परिधि से बाहर रखा गया, लेकिन संविधान के अनुच्छेद 243 ड. के खण्ड 4 (ख) के अनुसार संसद कानून बनाकर इसे वर्जित अनुसूचित क्षेत्रों तथा आदिवासी क्षेत्रों में भी लागू कर सकती है। इस ध्येय को ध्यान में रखकर 73वें संशोधन के लाभों को आदिवासियों तक पहुचाने के लिए संसद ने पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) विधेयक दिसम्बर, 1996 में पारित किया तथा राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद यह विधेयक 24 दिसम्बर 1996 से

लागू हो गया। इस अधिनियम को PESA के नाम से भी जाना जाता है। वर्तमान में यह भारत के उन राज्यों में लागू है, जहां अनुच्छेद 244(I) के अन्तर्गत 5वीं अनुसूची के प्रावधान प्रवर्तित है।

वर्तमान सन्दर्भ में पंचायती राज

पंचायती राज मंत्रालय

भारत में केन्द्रीय स्तर पर पंचायती राज के कार्य निर्देशित एवं समन्वित करने के लिए पृथक से एक मंत्रालय की स्थापना 27 मई, 2004 को हुई। इससे पूर्व इस मंत्रालय से संबंधित कार्य ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा निर्वाहित होते थे। इस नए पंचायती राज मंत्रालय का राजनीतिक नेतृत्व पंचायती राज मंत्री द्वारा किया जाता है।[10]

पंचायती राज मंत्रालय के प्रमुख कार्य

- पंचायती राज सशक्तिकरण हेतु राज्यों में समन्वय करना
- पंचायती राज तथा पंचायती राज संस्थाओं से संबंधित नीति, कानून एवं कार्यक्रमों का निर्माण एवं क्रियान्वयन करना।
- पंचायत विकास और प्रशिक्षण योजना के माध्यम से पंचायती राज संस्थाओं से संबंधित जन प्रतिनिधियों एवं लोक सेवकों की क्षमता वृद्धि करना।
- संविधान की मूल भावना के अनुरूप पंचायतों को कार्य, कोष तथा कार्मिक हस्तांतरित कराने में मार्गदर्शन देना।
- राष्ट्रीय पंचायत पोर्टल को अद्यतन करना।
- गोलमेज़ सम्मेलनों में पारित प्रस्तावों का क्रियान्वयन सुनिश्चित कराना।

मनरेगा एवं पंचायती राज (MGNREGA & Panchayati Raj)[11]

महात्मा गांधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी अधिनियम - 'मनरेगा' (2005) की शुरूआत 2 फरवरी, 2006 को देश के 200 जिलों में हुई। बाद में इसका देशभर में विस्तार हो गया मनरेगा योजना के तहत ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक परिवार के एक सदस्य को वर्ष में कम-से-कम 100 दिन अकुशल श्रम वाले रोजगार की गारंटी दी गई है। मनरेगा की धारा 13 से 17 के बीच पंचायती राज संस्थाओं के अधिकारों का उल्लेख किया गया है-मनरेगा का 50 प्रतिशत धन पंचायती राज संस्था (ग्राम पंचायत) द्वारा प्रत्यक्ष व्यय किया जाएगा। मनरेगा की धारा-13 के अन्तर्गत ग्राम, ब्लाक व जिला स्तर पर मनरेगा की योजना बनाने एवं इसको लागू करने का प्राधिकार होगा। ग्राम सभा ग्राम पंचायत को विशेषीकृत परियोजनाओं की सलाह दे सकेगी। मनरेगा की धारा-17 के अनुसार ग्राम सभा, ग्राम पंचायत के अन्तर्गत कार्य को लागू करने की निगरानी करेगी। ग्रामसभा, ग्राम पंचायत के अन्तर्गत प्रारम्भ की गई योजनाओं के अधीन सभी परियोजनाओं का नियमित सामाजिक अंकेक्षण (Social Audit) करेगी।

ई-पंचायत (e-Panchayat)

पंचायतों में शासन की गुणवत्ता सुधार हेतु केन्द्र सरकार ने सभी पंचायतों को ई-सक्षम करने के लिए 'ई पंचायत''[12] मिशन मोड परियोजना (Mission Mode Project) (MMPs) नामक एक परियोजना प्रारम्भ की है। जिससे इन्हें स्वशासन की आधुनिक संस्थाओं के रूप में तैयार किया जा सके।

ई-पंचायत का उद्देश्य पंचायती राज संस्थाओं को आधुनिक दक्षता, उत्तरदायित्व का प्रतीक बनाना तथा सूचना प्रौद्योगिकी (Information Technology) के प्रति वृहत्त ग्रामीण आबादी को अभिप्रेरित करना है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते है कि संविधान के 73वें संशोधन के जरिये भारत में जमीनी जनतंत्र लागू हो चुका है। पंचायती राज संस्थाएं बहुत ही सक्रिय एवं मजबूत हुई है तथा व्यवस्था में इनकी भागीदारी बढ़ी है यद्यपि की ये संस्थाएं वित्तीय संकटों से भी जूझ रही है इनके लिये कोष के नियमन एवं इसके उचित प्रबंधन की आवश्यकता है। साथ ही साथ इनके उत्तरदायित्वों को सुनिश्चित करना अभी शेष है जिसपर गंभीरता पूर्वक विचार कर इन संस्थाओं को और अधिक क्रियाशील एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था की मजबूत और रीढ़ बनाया जा सके।

संदर्भ सूची

1. Government of India: Memorandum of the Development and working of Representative institution in the sphere of Local Self Government, Vol-V p-1056
2. Constitution of India (Article-40)
3. प्रतियोगिता दर्पण/जनवरी/2007
4. वही
5. 64Th Constitutional AmendmentAct, 1964
6. 73rd Constitutional AmendmentAct,1992
7. Constitution of India: "ELEVENTH SCHEDULE" power, authority and responsibility of Panchyats.
8. Constitution of India: PART-IX (Art-243 to 243O)
9. Panchyat Extension Shedule Act (PESA),1996
10. भारत: प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2005
11. MGNAREGA & Panchyati Raj Act-2005
12. योजना : प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2009

- Maheswari, S.R., *Local Governmentin India*, New Delhi, Orient Longman, New Delhi,2010
- Joshi, R.P.& Narwani, G.S., *Panchyati Raj in India: Emenging Trends*, Rawat Publication, Jaipur,2002
- Mishra, S.N., *Dream and Realities: Expections from Panchyati Raj*, New Delhi,IIPA, 1996
- Jha, S.N. and Mathur, P.C., *Decentralization and Local Politics*, New Delhi,1999
- सईद, एस.एम., *भारतीय राजनीतिक व्यवस्था*, भारत बुक सेन्टर, लखनऊ, 2007
- मंगालानी, डॉ० रूपा, *भारतीय शासन एवं राजनीति*, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2011
- नारंग, ए.एस., *भारतीय शासन एवं राजनीति*, गीतांजलि पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2005

Reports

- Balwant Rai Mehta Committee Report-1957
- Ashok Mehta Committee Report-1977
- J.K.V. Rao Committee Report-1985
- L.M. Singhavi Committee Report-1986
- P.K. Thungan Committee Report-1988

आपातकाल के बाद प्रेस की स्वतंत्रता

कुमारी रीना

शोध छात्रा, राजनीति विज्ञान विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया

जनता पाटी के चुनाव घोषणा-पत्र मे नागरिक अधिकारों की पुनर्प्राप्ति और संरक्षण की बात थी, जिसमें प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल थी। अत: प्रेस का देसाई सरकार से प्रारंभिक संबंध मधुर रहा। जनता सरकार के सत्तारूढ़ होने की प्रेस में भरपूर प्रशंसा की गई। उनके द्वारा नियुक्त आयोगों और आपातकालीन स्थिति में हुई सरकारी ज्यादतियों संबंधी खोजों को भी प्रेस में पर्याप्त महत्व व स्थान दिया गया। परन्तु साथ ही प्रेस बहुत समय तक राष्ट्र की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दशा की अवहेलना नहीं कर सका।

जनता दल की अंदरूनी कलह, नेतृत्व के लिए प्रतियोगिता, दलबदल और अन्य घोटालों की सूचना प्रेस द्वारा जनता तक पहुंचाई गई। परिणामस्वरूप जो राष्ट्र का चित्र समाचारपत्रों में बना, वह एक विघटित, विभाजित और कमजोर समस्याग्रस्त राष्ट्र का था, जिसका प्रशासन और नेतृत्व राष्ट्र को प्रगति की ओर ले जाने में अक्षम था। यह चित्र प्राय: सभी समाचार-पत्रों ने खींचा। उनमें केवल मात्रात्मक अंतर था। अत: 1980 में इंदिरा गांधी पुन: सत्ता में आ गईं जिसमें जनता के साथ-साथ प्रेस का समर्थन भी शामिल था। ऐसा नहीं कि प्रेस की निष्ठाएँ बदल गई हों, परन्तु वस्तुस्थिति को निष्पक्ष और सत्य बयान करने में प्रेस ने ईमानदारी से कार्य किया था। सत्ता-परिवर्तन उसका स्वाभाविक परिणाम था।

आपातकालीन अल्पावधि को छोड़कर अधिकांशत: भारतीय राजनीतिक नेतृत्व व्यापक तौर पर प्रेस की स्वतंत्रता के प्रति उत्सुक और प्रतिबद्ध रहा है। यह स्वतंत्रता भारत के मौलिक अधिकारों में वर्णित 'भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' (अनु. 19(1) की ही अभिन्न भाग मानी गई है जिस पर अनु. 19(2) के अन्तर्गत कुछ प्रतिबंध राष्ट्रीय और सामाजिक हित में लगाए जा सकते हैं। साथ ही यह भी आवश्यक माना गया है कि पत्रकारिता के अति उच्च स्तर तक पहुंचा जाए तथा पत्रकारों, समाचार-पत्र/पत्रिकाओं और समाचार एजेन्सियों द्वारा एक आचार-संहिता का निर्माण और पालन किया जाए ताकि पत्रकारिता में उत्तरदायित्व और सार्वजनिक सेवा जैसी भावनाओं को प्रोत्साहन मिले। उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह उचित समझा गया कि एक वैधानिक संस्था का गठन किया जाए। अत: 1965 के केन्द्रीय अधिनियम, प्रेस परिषद् अधिनियम द्वारा 'प्रेस परिषद्' का गठन किया गया जिसे 1969 और 1970 में संशोधित किया गया। ऐसा प्रथम प्रेस आयोग (1954) की सिफारिशों के आधार पर किया गया।

प्रेस परिषद् का उद्देश्य प्रेस की स्वतंत्रता का संरक्षण और समाचार पत्रों और समाचार एजेंसियों के स्तर में सुधार और रख-रखाव था। इनके लिए उसे प्रेस पर एकाधिकार की समाप्ति के लिए आचार संहिता का निर्माण और उनमें सार्वजनिक हित के लिए उत्तरदायित्व की भावना इत्यादि के लिए प्रयत्न करने का अधिकार था।

परिषद् में अध्यक्ष के अतिरिक्त 29 अन्य सदस्यों का प्रावधान था जिनमें लोकसभा के स्पीकर, राज्य सभा के सभापति, भारत के मुख्य न्यायाधीश के साथ-साथ समाचारपत्रों के संपादक, प्रबंधक, पत्रकारों और संसद सदस्यों में से मनोनीत सदस्य हो सकते थे। साथ ही विभिन्न साहित्यिक और

व्यावसायिक संस्थाओं जैसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) बार काउंसिल और साहित्य अकादमी से भी सदस्यों का मनोनयन संभव था। पहली प्रेस परिषद् लगभग 9 वर्ष रही।

प्रेस परिषद् को 1976 में निरस्त कर दिया गया था, परन्तु 1978 में जनता सरकार के शासन में उसे पुनर्जीवित किया गया। नवीन प्रेस परिषद् की सदस्य संख्या बढ़ाकर 29 कर दी गई जिसमें एक अध्यक्ष व 28 अन्य सदस्य होते थे। यह 1988 में पुनः गठित की गई। अध्यक्ष और सदस्यों का कार्यकाल तीन वर्ष का होता है और कोई व्यक्ति दो बार से अधिक सदस्य नहीं बनाया जा सकता। अपने स्वरूप में भारतीय प्रेस परिषद् विश्व की अनेक प्रेस परिषदों से अधिक स्वतंत्र भी है और शक्तिशाली भी। प्रेस परिषद् ने अपनी भूमिका निभाते हुए अपने लिए एक सम्माननीय स्थान बना लिया है। न केवल इसने सरकार के खिलाफ समाचारपत्रों की शिकायतों को सुना है बल्कि समाचारपत्रों के खिलाफ सरकारी और व्यक्तिगत शिकायतों को भी सुना है, उनकी जाँच करवाई है और अपने निर्णय भी दिए हैं।

इस प्रकार परिषद् सरकार और जनता दोनों का विश्वास प्राप्त कर सकी है तथा नागरिकों और न्यायालयों के बीच एक मध्यवर्ती कड़ी का काम भी कर रही हैं। परन्तु पत्रकारों का एक समूह मानता है कि सरकार द्वारा गठित और अनुदानप्राप्त संस्था के रूप में परिषद् की ऐसी सीमाएँ हैं जो उसकी विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लगा सकती है।

भारत की प्रमुख समाचार समितियाँ प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया (1948), यूनाइटेड न्यूज ऑफ इंडिया (1960), हिन्दुस्तान समाचार और समाचार भारती है। प्रेस आयोग ने समाचार समितियाँ की तटस्थता और निष्पक्षता की आवश्यकता पर बल दिया। परन्तु प्रायः विरोध पक्ष द्वारा इन पर शासकीय और बड़े औद्योगिक घरानों के नियंत्रण का आरोप लगाया जाता है जो पूर्णतः असत्य भी नहीं है।

भारत का समाचारपत्र उद्योग भी काफी सजग और संगठित हो गया है। इनके कुछ उल्लेखनीय संगठन भारतीय समाचारपत्र समाज, प्रेस की राष्ट्रीय समन्वय समिति, भारतीय संपादक गिल्ड, छोटे और मध्यम दर्जे के समाचारपत्रों का संघ, आल इंडिया न्यूज पेपर एडीटर्स कान्फ्रेंस भारतीय और प्रांतीय पत्रकार संघ एण्ड इस्टर्न न्यूज पेपर्स सोसाइटी, इंडियन लैंग्वेज न्यूज पेपर एसोसिएशन इत्यादि हैं। ये संगठन अपने समूहगत हितों के साथ-साथ प्रेस की स्वतंत्रता के संरक्षण के लिए भी कार्य करते हैं। राजीव गांधी सरकार द्वारा 1988 में मानहानि विधेयक की वापसी इन संगठनों की एकता व शक्ति का परिणाम थी।

भारतीय प्रेस ने स्वयं अपनी स्वतंत्रता को मर्यादित करने के लिए आचार संहिता बनाने के अनेक बार प्रयत्न किये हैं जिनमें से दो मुख्यतः उल्लेखनीय हैं। प्रथम, 1953 में अखिल भारतीय समाचार-पत्र संपादक सम्मेलन की स्थायी समिति द्वारा स्वीकृत आचार संहिता जिसके 15 सूत्र थे और 1975 में वरिष्ठ संपादकों और पत्रकारों द्वारा स्वीकृत आचार संहिता जिसमें 14 सूत्र थे। इनके अतिरिक्त प्रथम प्रेस आयोग (1952-54) द्वारा 1954 में एक 17 सूत्रीय संहिता का प्रस्ताव किया गया था। तीनों संहिताओं में अनेक समानताएँ हैं। लगभग सभी ने अनुच्छेद 19(2) में वर्णित मर्यादाओं या सीमाओं को ही सरल शब्दों में प्रस्तुत किया है। परन्तु तीनों आचार संहिताओं में से कोई भी पत्रकार और सरकार द्वारा उसी रूप में स्वीकार नहीं की गई है।

1966 में नियुक्त प्रेस-परिषद् का भी एक दायित्व समाचार-पत्रों, समाचार समितियों और पत्रकारों के लिए 'उच्च व्यावसायिक स्तर' के अनुरूप आचार-संहिता निर्मित करना था। इसके स्थान पर

उसने यह मत दिया कि किसी संहिता के निर्धारण के स्थान पर जो शिकायतें परिषद् के सामने आएँ, उन पर उसके द्वारा किए गए निर्णयों के संकलन में से, व्यवहार के सिद्धान्त विकसित होने चाहिए, क्योंकि संगठित संहिता से दृष्टिकोण इतना कठोर हो सकता है कि उससे लाभ से अधिक हानि हो सकती है। एडीटर्स गिल्ड ऑफ इंडिया ने भी इसका समर्थन करते हुए यह मत दिया कि 'उत्तरदायी व्यक्ति औपचारिक संहिताओं से नियंत्रित नहीं किए जा सकते।'

भारत के दूसरे प्रेस आयोग (1978-82) ने भी 1982 में प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में उपर्युक्त मत का समर्थन किया। 1976 में संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् में भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया गया था कि इस बात का भय है कि उत्तरदायित्वयुक्त स्वतंत्रता का सिद्धांत इतनी दूर तक ले जाया जाए कि उत्तरदायित्व पर दिया गया जोर स्वतंत्रता को विलुप्त कर दे। अतः विकसित और अविकसित सभी राष्ट्रों में उत्तरदायित्व और स्वतंत्रता के बीच उचित संतुलन ही प्रेस की स्वतंत्रता का स्थायी आधार हो सकता है।

उत्तर-पूर्वी राज्यों में अलगाववाद भारत-म्यांमार संबंध

डॉ० पप्पु कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, बाल्मीकि सिंह डिग्री कॉलेज, वृन्दावन थावें, गोपालगंज

भारत के उत्तर-पूर्वी हिस्से में 8 राज्य हैं। प्रत्येक राज्य की अपनी खास संस्कृति एवं परम्परा है। भारत के इस हिस्से को अलगाववादी आंदोलन को पैदा करने वाले हिस्से के रूप में दर्शाया जाता है। चारो ओर जमीन से घिरे इस क्षेत्र में 30 विद्रोही संगठन फल-फूल रहे हैं। ये विद्रोही संगठन नई दिल्ली से स्वायत्तता या स्व-शासन की माँग के लिए संघर्षरत हैं। नेपाल, भूटान, तिब्बत, बर्मा और बांग्लादेश से घिरे इस क्षेत्र का भारत के साथ जुड़ाव, भारतीय सीमा रेखा के 3 प्रतिशत हिस्से के जरिये ही हो पाता है।

भारतीय संघ ने इस क्षेत्र को दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया में एक व्यापारिक क्षेत्र के रूप में विकसित करने के लिए बहुत-सी योजनाओं एवं प्रस्तावों का मसौदा तैयार किया है। नई दिल्ली की 'पूर्व की ओर देखो नीति', इस क्षेत्र के मूलवासियों को आर्थिक लाभ देने की नीति है। बर्मा के पश्चिमी समुद्री किनारा स्थित अराकान में सिन्वे बंदरगाह को विकसित करने के लिए भारत ने करोड़ों अमरीकी डॉलर की एक कालादान परियोजना को लागू करने का निश्चय किया है। यह पश्चिमी बर्मा को मिजोरम से जोड़ेगा। इसके साथ ही भारत-बर्मा गैस पाइप लाईन भी उत्तर-पूर्व के आर्थिक हितों के एक बड़े अवसर के रूप में प्रचारित किया गया। हालांकि यह परियोजना अभी ठंढे बस्ते में डाल दिया गया है (खासकर बांग्लादेश ने जब इस पाइप लाईन को अपने क्षेत्र से गुजरने की इजाजत नहीं दी)।

भारत के लिए परिस्थिति तब तक अनुकूल चल रही थी, लेकिन बर्मा में अचानक जनविद्रोह भड़क उठा। भारत सरकार द्वारा सैनिक शासकों को खुश करने की नीति की अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों, जिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं यूरोपीय संघ शामिल हैं, ने आलोचना की, लेकिन भारत के लिए असली चुनौती उन अलगाववादी क्षेत्रों से आ रही है, जहाँ आम सभाओं, रैलियों तथा अन्य पहलों को अच्छा समर्थन हासिल हो रहा है। इसके माध्यम से इस क्षेत्र की जनता बर्मा में जारी जनविद्रोह का समर्थन कर रही है तथा बर्मा के जनतंत्र समर्थक महानायिका डाउ ऑग-सू-की के पक्ष में खड़ी है।

बर्मा की सीमा से सटे उत्तर पूर्व के राज्य मणिपुर में हाल में आयोजित एक सम्मेलन में सर्वसम्मति से बर्मा की जनता द्वारा जनतंत्र को लागू करने के संघर्ष को समर्थन देने का निर्णय लिया। 'मानव-अधिकारों की रक्षा के लिए नागा जन-आंदोलन' की ओर से 13 अक्टूबर को उखरूल में इस सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें विभिन्न सामाजिक संगठनों, गिरिजाघरों के प्रतिनिधियों, गैर सरकारी संगठनों एवं अन्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इस सम्मेलन ने बर्मा की सैनिक सत्ता का आह्वान करते हुए कहा कि बर्मा की लम्बे समय से उलझी समस्याओं को शांतिपूर्ण जनतांत्रिक ढंग से सुलझाई जाय।

इसके पूर्व इस राज्य में 2 अक्टूबर को एक एकजुटता बैठक का आयोजन किया गया। इस बैठक ने मजबूती से भारत सरकार से आग्रह किया कि वह सैनिक जनता के साथ अपने सभी संबंधों को खत्म करें। प्रमुख कानून निर्माताओं, राजनैतिक कार्यकर्ताओं, मानवाधिकार कार्यकर्ताओं, शांति के

लिए कार्यरत कार्यकर्ताओं तथा अन्य लोगों ने बैठक में शिरकत की। बैठक ने अपने प्रस्ताव के जरिये बर्मा के जनतांत्रिक आंदोलन को बिना शर्त समर्थन करने की घोषणा की।

अभी हाल में मणिपुर में हजारों ईसाइयों ने एक प्रार्थना अभियान में शामिल होकर बर्मा में जनतंत्र एवं स्वतंत्रता का समर्थन किया। 21 अक्टूबर को म्यांमार ईसाई फेलोशिप, जिसमें बर्मा के प्रवासी ईसाई भी शामिल हैं, ने आँग-शान-सू-की के प्रति अपनी एकजुटता प्रदर्शित करते हुए, सर्वशक्तिमान भगवान से प्रार्थना करते हुए मांग की कि बर्मा के सभी राजनैतिक बंदियों को रिहा किया जाय जिसमें बर्मा की महानायिका भी शामिल हैं।

इसके पूर्व 6 अक्टूबर को मेघालय, नागालैंड, असम के नागरिक समाज ने स्वतंत्र बर्मा के पक्ष में विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से वैश्विक आन्दोलन दिवस के रूप में मनाया। इसी दिन इन राज्यों में आयोजित प्रदर्शनों के जरिये बर्मा के शांतिपूर्ण ढंग से संघर्षरत भिक्षुओं, जिन्हें बर्मा की सत्ता ने क्रूरतापूर्वक कुचल दिया, के प्रति समान रूप से अपनी चिंता प्रकट की गई। शिलांग के पास माउफ्लांग में करीब 20 हजार लोग इकट्ठे हुए और केन्द्र से अनुरोध किया कि वह बर्मा में उत्पन्न संकट में हस्तक्षेप करें तथा सैनिक शासन पर राजनयिक दबाव डालकर उसे जनतांत्रिक शक्तियों से वार्ता के लिए राजी करें।

बर्मा की सीमा से सटे दूसरे राज्य नागालैंड में वहाँ के मूल निवासियों ने एक रैली के जरिये संयुक्त राष्ट्रसंघ से तत्काल हस्तक्षेप की मांग करते हुए कहा कि बर्मा की सेना के अधिकारी समूह के खिलाफ सख्त कार्रवाईयां की जाय तथा वहाँ लम्बे समय से चले आ रहे संकट को सुलझाया जाय। नागा हो हो, नागा छात्र फेडरेशन, नागा पीपुल्स मूवमेण्ट फार ह्यूमेन राइट्स, नागालैंड बैपटिस्ट चर्च तथा अन्य प्रभावी नागरिक सामाजिक समूहों द्वारा आयोजित इस रैली में हाथ में लिये हुए पट्टी के माध्यम से 'शान्तिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर हमला बंद करो', 'बर्मा की जनता को सैनिक शासन से मुक्त करो' तथा '1988 की हत्याकांड मत दुहराओ' आदि नारे प्रदर्शनकारी लगा रहे थे।

इसी तरह असम में मोमबत्ती जलाकर सैकड़ों लोगों ने बर्मा की संघर्षरत जनता के प्रति एकजुटता प्रदर्शित की। उत्तर-पूर्व जनता की पहल द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में सैकड़ों लोग शामिल हुए। इसके माध्यम से नोबेल विजेता आँग-शान-सू-की के प्रति समर्थन व्यक्त करते हुए इस संदेश को दूर-दूर तक फैलाया गया। आँग-शान-सू-की पिछले चार वर्षो से रंगून की जेल में बंद हैं।

इसके पूर्व 4 अक्टूबर को गुवाहाटी में नागरिकों की एक बैठक में केन्द्रीय सरकार से अनुरोध किया गया कि बर्मा की सैनिक सत्ता पर राजनयिक दबाव डाला जाय और उसे हिदायत दी जाय कि जनतांत्रिक आंदोलन से जुड़े लोगों के खिलाफ कोई दमनात्मक कार्यवाई न की जाय। असम के पत्रकार मंच द्वारा आयोजित इस बैठक में एक प्रस्ताव के जरिये भारत सरकार से कहा गया कि अपने पड़ोसी देश में घट रही घटनाओं के प्रति वह मूकदर्शक न हो तथा अपनी क्षमता के अनुरूप वहाँ जनतंत्र के शांतिपूर्ण रूपान्तरण का रास्ता प्रशस्त करें।

इसी तरह बर्मा में जनतंत्र के लिए मिजोरम कमिटी ने नई दिल्ली की सरकार को बर्मा की सैनिक सत्ता को अपना संविधान बदलने तथा जनतांत्रिक व्यवस्था कायम करने के लिए राजी करने में सक्रिय भूमिका निभाने की अपील की। 20 अक्टूबर को अजबैल में एक पत्रकार सम्मेलन में कमिटी ने इस बात पर जोर देते हुए कहा कि वह बर्मा में जनतंत्र चाहती है। इस कमिटी में नागरिक समाज मानव अधिकार कार्यकर्ता-बुद्धिजीवी तथा मिजोरम की चेतनशील जनता शामिल थी। इस कमिटी ने जोर देते हुए कहा कि केन्द्र सरकार बर्मा के वर्तमान राजनैतिक संकट में हस्तक्षेप करें। इसके पूर्व 4 अक्टूबर को बर्मा की सीमा से सटे राज्य में एक एकजुटता बैठक के जरिये माँग की गई कि नई

दिल्ली बर्मा की सैनिक सत्ता के साथ अपने सभी संबंध तब तक तोड़ ले जब तक कि बर्मा में जनतंत्र की पुनर्स्थापना न हो जाय। मिजोरम में आयोजित बर्मा की सैनिक सत्ता के खिलाफ बैठक का महत्व इस अर्थ में बहुत ज्यादा है क्योंकि इस छोटे से राज्य में बर्मा से आए हुए करीब 40 हजार चिन शरणार्थी हैं जिन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ के उच्चायुक्त द्वारा अभी भी शरणार्थी का दर्जा देना बांकी है। 1988 में बर्मा में हुए जनविद्रोह के दौरान हुए दमन के बाद विभिन्न समूहों में भारत के अन्दर प्रवेश किया। वे मिजोरम में अपने को सुरक्षित समझते हैं क्योंकि मीजो एवं चिन आदिवासी के बीच भाषाई समानता है तथा सामाजिक एवं धार्मिक नैतिकता भी एक ही तरह की है।

बर्मा के सैनिक शासन के साथ अपने रणनैतिक संबंधों को लेकर आलोचना का शिकार होने के बावजूद नई दिल्ली अपने कदम को लगातार सही करार दे रही है। इसके तर्क हैं कि वह सैनिक जनता को अलग-अलग करने के बजाय उसके साथ बातचीत कर रही है। उत्तर-पूर्व के दौरे पर अभी हाल में आये विदेश मंत्री ने इस बात को दुहराया कि नई दिल्ली म्यांमार के साथ बहुत-सी परियोजनाओं में शामिल है। विभिन्न क्षेत्रों की परियोजनाएँ जैसे पथनिर्माण, रेल, दूर संचार, सूचना तकनीक, विज्ञान एवं तकनीक, ऊर्जा इसमें प्रमुख हैं। गुवाहाटी में 'पूर्व की ओर देखो' नीति पर बोलते हुए प्रणव मुखर्जी ने इस बात पर जोर देते हुए कहा कि एक मित्र पड़ोसी के रूप में भारत एक शान्तिपूर्ण, समृद्धशाली एवं स्थिर म्यांमार देखना चाहता है, जहाँ सभी तबकों के लोग राष्ट्रीय सहमति एवं राजनैतिक सुधार की विस्तृत आधार वाली प्रक्रिया में शामिल हों।[1]

1990 के दशक के शुरुआती दौर तथा भारत ने बर्मा के जनतांत्रिक आंदोलन का समर्थन किया था लेकिन उस देश में चीन के बढ़ते प्रभाव से भारत चिन्तित है। भारत ने बर्मा के बारे में अपनी नीतियों में बदलाव लाया तथा बर्मा की सैनिक सत्ता के साथ बड़े आर्थिक सहयोग के रास्ते पर चलने लगा। भारत की दूसरी सबसे बड़ी चिन्ता उत्तर-पूर्व के क्षेत्र में बढ़ती विद्रोही गतिविधियाँ हैं। सशस्त्र विद्रोही समूह उत्तर बर्मा के घने जंगलों का इस्तेमाल अस्त्र-शस्त्र के प्रशिक्षण केन्द्रों के रूप में कर रहे हैं। भारत का तर्क है कि वह सैनिक सत्ता के प्रति आँखें नहीं मूँद सकता है क्योंकि वह भारत-बर्मा से जुड़े 1600 कि.मी. लम्बे खुले सीमा पर चल रहे विद्रोही गतिविधियों पर काबू पाने में मदद कर रहा है।

लेकिन जमीनी सच्चाई यही है कि नई दिल्ली के खिलाफ उत्तर-पूर्व के लोगों में बहुत ज्यादा क्षोभ व्याप्त है। यहाँ के मूल निवासियों की यह समझ है कि केन्द्र सरकार इस क्षेत्र के तेल, कोयला, चाय, जंगल जैसे संसाधनों का दोहन करती है लेकिन उत्तर-पूर्व राज्यों की शाश्वत समस्याओं के प्रति बहरी बनी रहती है। अलग-थलग पड़े उत्तर-पूर्व क्षेत्र के निवासियों के बढ़ते गुस्से का सामना करना, भारत सरकार के लिए एक बड़ी चुनौती है। हालांकि इसमें कोई शंका नहीं है कि उत्तर-पूर्व के लोग विभिन्न मोर्चों पर लम्बे समय से संकट का सामना कर रहे हैं और अस्थिर बर्मा के चलते इसके महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं। जहाँ एक ओर यह क्षेत्र बर्मा से आने वाले शरणार्थियों की शरणस्थली बना हुआ है, वहीं इसके निवासी अवैध नशीले पदार्थों के व्यापार, अस्त्र-शस्त्र के अवैध कारोबार को अपने सामने होते देखते रहते हैं। अतः इस क्षेत्र के गरीब लोग इस कारोबार से जुड़ जाते हैं। उत्तर-पूर्व के लोगों के बीच एच.आई.वी. एड्स चिन्ताजनक स्तर पर पहुँच चुका है।

हमारे देश के खेलों के लिए बड़े-बड़े खिलाड़ियों का निर्माण करने वाला राज्य आज एच.आई. वी. संक्रमित सबसे बड़े राज्य में बदल गया है। इस क्षेत्र के प्रतिभाशाली एवं क्षमतावान युवा नशे के दलदल में फँस रहे हैं। बर्मा से नशीले पदार्थों के अवैध आपूर्ति के चलते दूसरी खतरनाक बीमारियाँ भी पैदा हो सकती हैं। प्रश्न उठता है कि क्या नई दिल्ली को इन तमाम घटना विकासों के प्रति

उदासीन रहना चाहिए, जो इन क्षेत्र को प्रभावित कर रहा है। वस्तुत: यह उत्तर-पूर्व के हित में है कि बर्मा में स्थिर एवं जनतांत्रिक सरकार है। केन्द्रीय सरकार को उत्तर-पूर्व की समस्याओं को हल करने के सिलसिले में वहाँ की परिस्थितियों को सही तरीके से समझना चाहिए। उस क्षेत्र में स्वाधीनता के बाद से ही भारत विरोधी आवाजें उठती रही है। उत्तर-पूर्व के लोगों में अगर बर्मा के सैनिक शासकों के खिलाफ क्षोभ बढ़ेगा तो इसके चलते भारत सरकार की मुश्किलें आने वाले समय में बढ़ेंगी।

पिछले कुछ दिनों में बर्मा के सैनिक शासन द्वारा शान्तिपूर्ण प्रदर्शनकारियों तथा बौद्धभिक्षुओं के खिलाफ की गई क्रूरतापूर्ण कार्रवाईयों के चलते हुए बौद्ध भिक्षुओं की संभावित मृत्यु की अन्तर्राष्ट्रीय जगत में बड़ी आलोचनाएँ हुई हैं। जनतंत्र पक्षी कार्यकर्ताओं ने सैनिक शासन के खिलाफ अपना संघर्ष तेज कर दिया है। अत: म्यांमार की परिस्थिति का उत्तर-पूर्व के राज्यों पर क्या असर पड़ रहा है, इसकी जाँच आवश्यक है। हमें अभी इस संबंध में तमाम पहलुओं पर नजर डालनी होगी। सीमा व्यापार, बर्मा और उत्तर-पूर्व की जनता के बीच आपसी संबंध का अभाव तथा भारत के 'पूर्व की ओर देखो नीति' के निर्धारण में उत्तर-पूर्व के राज्यों का प्रभाव आदि।

उत्तर-पूर्व राज्य म्यांमार से लगातार जुड़ा हुआ है जो करीब 1600 किमी. की सीमा तक फैला हुआ है। दोनों क्षेत्रों के बीच सीमा व्यापार महत्वपूर्ण स्थान रखता है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के कुछ जगहों पर ही यह सीमित है। बर्मा के सैनिक शासकों द्वारा म्यांमार से जुड़े सीमा पर सेनाओं की बड़े पैमाने पर आवाजाही के चलते इस व्यापार में कमी आई है। इस तरह के भड़काऊ उपस्थिति में व्यापारी लोक कोई खतरा मोल लेना नहीं चाहते हैं।

माण्डले और यागोन के बाजार बंद कर दिये गये हैं तथा नामधा लॉग स्थित सीमा व्यापार चौकी भी बंद कर गयी है जिसके चलते योरहे के जरिये मणिपुर में होने वाले व्यापार पर प्रभाव पड़ा है। इस बात पर गौर करना महत्वपूर्ण है कि म्यांमार के साथ व्यापार के लिए मणिपुर एवं मिजोरम राज्यों के पास विशेष नीतियाँ हैं। ये नीतियाँ भारत सरकार की नीतियों से मेल नहीं खाती है। भारतवर्ष की बर्मा के सम्बन्ध में नीति ऊर्जा एवं रणनैतिक हितों से जुड़ी हुई है।

तेजी से विकसित हो रहे दक्षिण पूर्व एशियाई मुल्कों के साथ उत्तर-पूर्व के जुड़ाव में बर्मा प्रधान बाधा के रूप में है। अगर दक्षिण पूर्व एशिया के साथ उत्तर-पूर्व क्षेत्र का जुड़ाव हो जाय तो यह समृद्ध आर्थिक गतिविधि के केन्द्र के रूप में उभरेगा और इससे बड़े स्तर पर क्षेत्रीय जुड़ाव होगा। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के विद्रोहियों के प्रशिक्षण शिविर म्यांमार में तभी तक फले-फूलेंगे, जब तक वहाँ सैनिक शासन रहता है, क्योंकि इस गतिविधि से म्यांमार के सैनिक सत्ता को भारत के खिलाफ लाभ की स्थिति बनी रहती है। बर्मा के सैनिक शासन के साथ भारत का खुल्लम खुल्ला संबंध पूरी तरह गलत है और भारत इस बात को समझ नहीं पा रहा है कि बर्मा में जनतंत्र के फलने-फूलने से इस क्षेत्र की क्षमता का पूरा दोहन हो सकेगा तथा यह इस क्षेत्र और भारत के राष्ट्रीय हितों में होगा।

ऊपरी असम के डिब्रूगढ़ के मनकोट्ठा रोड पर असम की जनता अपनी प्रतिदिन की गतिविधियों के लिए आती जाती रहती है। यह विडंबना ही है कि इसका नाम ब्रिटिश शासन के समय उत्तर-पूर्व भारत पर हमला करने वाले बर्मा-वासियों के नाम पर रखा गया है। हमलावर बर्मियों द्वारा उत्तर-पूर्व के लोगों पर किये गये अत्याचारों की कहानियाँ आज भी लोगों की यादों का हिस्सा बनी हुई है। इन घटनाओं की पृष्ठभूमि में उत्तर-पूर्व की जनता का म्यांमार के साथ संबंध को लेकर एक मनोवैज्ञानिक दुराव एवं घृणा की भावना है। पीढ़ियों के गुजरने के साथ-साथ अब यह बात खत्म हो चुकी है। आज क्षेत्रीय सहयोग एवं एक-दूसरे के लाभ की बात हो रही है।

यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि अहोम जाति के लोगों को ही बर्मा के शासकों ने सबसे पहले निर्वासित किया था और वे लम्बा रास्ता तय कर असम में 1228 ए.डी. में आकर बसे। मूलत: वे दक्षिणी बर्मा में रह रहे शान आदिवासी समुदाय से आते थे जिन्होंने 600 वर्षों तक असम पर शासन किया था। इस ऐतिहासिक मेल-मिलाप के बावजूद आज इस वैश्विक दुनियाँ में आम जनों के बीच का रिश्ता टूट गया है। इसका कारण भारत एवं बर्मा की नीतियाँ हैं जिसने बर्मा और उत्तर-पूर्व की जनता के बीच एक बनावटी दीवार खड़ी कर दी है।

उत्तर-पूर्व के लोगों एवं म्यांमार के लोगों के बीच आपसी संबंध कायम करने की बात भारत सरकार के कार्यक्रम का हिस्सा नहीं है। म्यांमार के साथ एक संवेदनशील नीति अपनाये जाने के लिए इस तरह की आपसी बातचीत बहुत आवश्यक है। भारत-एशियान कार रैली की सफलता के बावजूद सीमा को खोला नहीं गया है। इस क्षेत्र की जनता ने इस कार्यक्रम का बहुत ही उत्साह एवं आशा से स्वीकार किया। कोलकाता की मजबूत लॉबी इस तरह के कार्यक्रम को आगे बढ़ने से रोकती रही है, क्योंकि म्यांमार के साथ होने वाला व्यापार कोलकाता के माध्यम से होता है। शुरुआती दौर में प्रस्तावित कालादान गैस पाइप लाईन परियोजना भी उत्तर-पूर्व राज्यों को इस तरह अलग-थलग करने की नीति से वहाँ विकास का अभाव है और इसके चलते विद्रोही गतिविधियाँ बढ़ रही है। उत्तर-पूर्व राज्यों के पास वह राजनैतिक शक्ति नहीं है जिसके आधार पर एक ही झटके में केन्द्रीय सरकार की नीतियों को बदल दे और यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि भारत अभी तक नीतियों में इस तरह के बदलाव से होने वाले लाभों के प्रति जागरूक नहीं है।

उत्तर-पूर्व भारत की जनता तथा म्यांमार द्वारा बड़े पैमाने पर निर्वासित जनता के बीच म्यांमार में जनतंत्र की पुनर्स्थापना की माँग के प्रति बड़ा समर्थन है। भारत को अपनी अवसरवादी एवं बनावटी नीतियों को त्यागकर इस भावना के साथ पूरी तरह जुड़ना चाहिए। यह कोई संकीर्ण उप-राष्ट्रीयता का हित नहीं है बल्कि स्वाभाविक जुड़ाव है जिसकी क्षमता का उपयोग कर इस क्षेत्र का सर्वांगीण विकास किया जाना चाहिए और इस बनावटी बंटवारे के आर-पार के लोगों की आशाओं एवं आकांक्षाओं को पूरा करना चाहिए। जैसे अगर एक कौवा गुवाहाटी के आसमान में उड़ता है तो यह दिल्ली की अपेक्षा हमोई के ज्यादा निकट है।

उत्तर-पूर्व की विद्रोही गतिविधियों पर काबू पाने के लिए म्यांमार के साथ समझौता

अपने पड़ोसी देश की जमीन से सक्रिय विद्रोही समूहों की गतिविधियों पर काबू पाने के लिए भारत ने दोनों पक्षों के लिए कानूनी सहायता समझौता पर हस्ताक्षर किया है, जिसके तहत म्यांमार में पकड़े जाने वाले भारतीय विद्रोह लड़ाके, भारत भेजे जा सकें जिससे उनके खिलाफ भारतीय कानून के अन्तर्गत कार्रवाई की जा सके।

भारत, म्यांमार के साथ इस तरह के समझौते के लिए पिछले ढाई दशकों से कोशिश कर रहा था। म्यांमार की सैनिक सरकार के प्रधान थानस्वे की भारत यात्रा के दौरान 25-26 जुलाई को इस समझौते पर हस्ताक्षर हुआ।

इस समझौते से भारत को सीमा के आर-पार होने वाले संगठित अपराधों, आतंकवादी गतिविधियों, नशीली दवाओं के अवैध व्यापार, रुपयों की कालाबाजारी, नकली नोटों के कारोबार तथा अस्त्र-शस्त्रों के अवैध व्यापार जैसी समस्याओं से निबटने में सहायता मिलेगी। भारत के गृह मंत्रालय के अनुसार म्यांमार में पकड़े जाने वाले भारतीय विद्रोहियों को भारत सरकार के हाथों सौंप

दिया जायेगा। विदेश मंत्री के एक अनाम अधिकारी के अनुसार तब उन विद्रोहियों के खिलाफ भारतीय कानूनों के अन्तर्गत मुकद्दमा चलाया जायेगा। दोनों अधिकारियों ने अपना नाम गुप्त रखने की शर्त पर उपरोक्त बातें कहीं।

भारत, म्यांमार के बीच 1600 किमी. का बिना बाड़ की सीमा है। उत्तर-पूर्व के आदिवासी एवं आदिम आदिवासी समुदायों के भारतीय विद्रोही इस खुली सीमा का उपयोग करते हुए भारतीय क्षेत्र के अन्दर आकर 'मारो और भाग जाओ' की रणनीति का इस्तेमाल करते रहे हैं। उत्तर-पूर्व के आदिवासी एवं आदिम आदिवासी समूह ज्यादा स्वायत्तता या स्वाधीनता के लिए संघर्षरत हैं।

कम से कम इस तरह के आधे दर्जन संगठन, जिसमें असम का यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट (उल्फा), नेशनलिस्ट कौंसिल ऑफ नागालैंड, खापलों गुट के बारे में कहा जाता है कि उत्तर म्यांमार के अन्दर इनके प्रशिक्षण शिविर हैं। हालांकि वे अपनी गतिविधियों को भूटान, बंगला देश और नेपाल से भी चलाते हैं और अपनी जगह बदलते रहते हैं।

उत्तर-पूर्व राज्य मणिपुर के पूर्व राज्यपाल वेद मरवाह का कहना है कि इस समझौते से भारत को विद्रोही गतिविधियों से लड़ने का एक महत्वपूर्ण हथियार मिला है। मणिपुर, म्यांमार की सीमा से जुड़ा हुआ है।

इस समझौते से विद्रोहियों को यह साफ संदेश भेजा गया है कि पड़ोसी भूमि से वे अपनी गतिविधियाँ चलाने में अब उतने सुरक्षित एवं निश्चित नहीं है जितना वो समझते हैं। भारत की आन्तरिक सुरक्षा से जुड़े गृहमंत्रालय के पूर्व अधिकारी वेद मरवाह का ऐसा कहना है।

विदेश मंत्रालय के एक-दूसरे अधिकारी ने कहा कि जनतंत्र का अभाव एवं मानव अधिकारों के बारे में बहुत बुरे इतिहास के कारण अन्तर्राष्ट्रीय आलोचनाओं एवं प्रतिबंधों का सामना कर रहे म्यांमार ने इस तरह के समझौते पर किसी देश के साथ हस्ताक्षर किया है। अपना नाम गुप्त रखने के आधार पर उन्होंने कहा कि इस तरह की सहायता के लिए हम 80 के दशक से ही जोर लगाते रहे हैं। भारत के अपराधियों की सूची में शामिल बहुत से लोग म्यांमार के जेलों में बंद हैं।

1980 एवं 1990 के दशकों में भारत ने आँग-शान-सू-की के नेतृत्व में चलने वाले जनतंत्र पक्षी संघर्ष को अपना भरपूर समर्थन दिया। लेकिन उत्तर-पूर्व के विद्रोही समूहों द्वारा म्यांमार के अन्दर से चलाये जा रहे गतिविधियों को देखते हुए इसने अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया। उस समय से भारत ने सैनिक सरकार के साथ अपना संबंध कायम कर लिया है। भारत ने म्यांमार के आधारभूत संरचनाओं के विकास, तेल एवं गैस की खोज तथा कर्ज देकर अपना निवेश बढ़ाया है। थानस्वे के भारत आगमन पर भारत ने म्यांमार में पथ निर्माण, कृषि उत्पादन में बढ़ोतरी तथा बिजली संचरण लाईनों एवं रेलवे के विकास के लिए 2000 मिलियन अमरीकी डॉलर (करीब 930 करोड़ रुपये) देने का आश्वासन दिया है। विदेशी मामलों के समीक्षकों की राय है कि इस समझौते से दोनों देशों को लाभ मिलेगा।

दुनिया में कुछ ही देश हैं, उनमें भारत एक है जो म्यांमार से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में विदेशी मामलों के अध्ययन से जुड़ी प्राध्यापिका मनमोहली कौल का कहना है कि भारत, म्यांमार में चीन के बढ़ते प्रभाव को संतुलित करना चाहता है जो दुनिया का सबसे बड़ा जनतांत्रिक देश एवं आर्थिक शक्ति है। भारत ने इस तरह के कानूनी सहायता आधारित समझौते 30 देशों के साथ किये हैं जिसमें नेपाल, बांग्लादेश, अमेरिका, ब्रिटेन, रूस तथा संयुक्त अरब अमीरात शामिल हैं, ऐसा गृह मंत्रालय का कहना है। बांग्लादेश द्वारा उल्फा आतंकवादियों, जिसमें

संगठन के उच्च पदस्थ नेता अरविन्द राज खोबा तथा सेना के संचालन से जुड़े उप प्रधान राजू बरूआ को भारत के हाथों सौंपे जाने से इस समझौते का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

दूसरे अधिकारी के अनुसार इस तरह का सहयोग, राजनैतिक इच्छा शक्ति पर निभर करता है। ऐसे भी उदाहरण हैं जब बहुत से देश एक-दूसरे की सहायता करने से इनकार कर देते हैं जबकि उनके साथ ऐसा समझौता है। उदाहरण के लिए सार्क देशों (क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिण पूर्व देशों का संघ) के बीच आतंकवाद पर एक सहमति है जिसके तहत सभी सदस्य देशों को आतंकवाद के खिलाफ एक-दूसरे की सहायता करनी है। लेकिन कुछ देश कुछ कानूनी समस्याओं एवं अन्य कठिनाईयों का हवाला देकर कोई रास्ता निकाल लेते हैं, ऐसा एक अधिकारी ने अपना नाम गुप्त रखने की शर्त पर कहा। लेकिन बंगलादेश की सरकार एक ऐसा उदाहरण है जिसने खूंखार आतंकवादियों के बारे में जानकारी दी और उसे भारत के हाथों सुपुर्द कर दिया।

बाद में यागोन के सैनिक शासन के राजकीय शान्ति एवं विकास परिषद् के उपाध्यक्ष माँग आर के नेतृत्व में 16 सदस्यीय प्रतिनिधिमंडल नवंबर 2000 में भारत आया और यात्रा के दौरान सीमा के आर-पार परिवहन, संचार के आधारभूत संरचना की स्थापना के लिए आपसी सहयोग को बढ़ाने पर सहमति जताई जिससे व्यापार एवं लेन-देन के संबंध में बढ़ोतरी हो। एक संयुक्त वक्तव्य के माध्यम से दोनों देशों में आतंकवादी गतिविधियों पर काबू पाने तथा आर्थिक संबंधों को सीमा के पास आगे बढ़ाने के लिए कदम उठाने पर सहमति बनी।

उत्तर-पूर्व सीमा पर स्थित मणिपुर राज्य के शहर मोरेह से म्यांमार के चिन्दविन नदी के पास कलेवा को जोड़ते हुए ऐतिहासिक भारत-म्यांमार पथ का निर्माण भारतीय सेना ने की, जिसका उद्घाटन 13 फरवरी, 2001 को हुआ। दोनों ओर के समाचार माध्यमों ने इस अवसर का स्वागत करते हुए इसे भिन्नता के नये युग की शुरुआत बताई। दोनों देशों को जोड़ने वाले पथों का खुलना दोनों देशों के राजनैतिक, आर्थिक एवं रणनैतिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है। एशियाई उच्च पथ को यूरोपीय महादेश से जोड़ने में यह पथ प्रमुख भूमिका निभायेगा।

उसके बाद से दोनों देशों के व्यापारिक रिश्तों में बहुत विस्तार हुआ है। आज भारत, चीन, सिंगापुर, थाइलैंड के बाद म्यांमार का चौथा बड़ा व्यापारिक साझीदार है। 1994 से शुरू हुआ तीन निर्धारित बिन्दुओं से सीमा व्यापार, जो मणिपुर, मिजोरम एवं नागालैंड की सीमाओं पर अवस्थित है, में तीव्रता आई है। हालांकि व्यापार का लाइसेंस प्राप्त करने तथा विभिन्न विद्रोही समूहों द्वारा डराने एवं पैसे की मांग करने से कठिनाईयाँ बरकरार हैं।

अब यागोन इस बात पर राजी हो चुका है कि अगर भारत और म्यांमार मिलकर काम करें तो एक-दूसरे की समस्याओं का समाधान निकाला जा सकता है। म्यांमार की नीति विद्रोही गतिविधियों वाले सीमा क्षेत्रों में आधारभूत संरचनाओं के विकास के साथ उन जगहों को केन्द्र से जोड़ने पर विशेष जोर है। अब जबकि पश्चिमी देशों के आर्थिक प्रतिबंधों के चलते अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में म्यांमार अलग-थलग पड़ गया है, उस परिस्थिति में भारत के साथ संबंध से उसे सहायता मिलेगी। जहाँ एक ओर भारत अपनी सुरक्षा एवं रणनैतिक हितों के लिए उत्पन्न खतरों का मुकाबला करने के लिए अपनी नीति निर्धारित कर रहा है, वहीं यह दक्षिण-पूर्व एशिया में अपनी उपस्थिति एवं प्रभाव बढ़ाने का भी काम करेगा। बदले परिदृश्य में म्यांमार ने अपने क्षेत्र में शरण लिये हुए भारतीय विद्रोहियों के खिलाफ कार्रवाई करने के प्रति ज्यादा प्रतिबद्धता दिखाई है। इस देश ने भारत विरोधी समूहों पर कार्रवाई शुरू करने के लिए भारत से सैनिक सहायता की माँग की है। बहुक्षेत्रीय तकनीक एवं आर्थिक सहयोग बंगाल की खाड़ी की पहल द्वारा आयोजित शिलांग की बैठक में शामिल होने के

लिए आये, म्यांमार के भारत स्थित राजदूत यू-की थियेन ने बताया कि म्यांमार ने भारत से भारत विरोधी गतिविधियों में संलग्न विद्रोहियों के म्यांमार में छिपी जगहों से उन्हें बाहर निकालने के लिए सामूहिक पहल के लिए भारत आवश्यक सैनिक सहायता प्रदान करें, हालांकि उन्होंने विस्तृत जानकारी नहीं दी।

म्यांमार, बांगलादेश और भूटान जैसे पड़ोसी देशों की जमीन से भारत विरोधी गतिविधियों में लिप्त आतंकवादी संगठन कार्यरत हैं। इसके चलते सबको पता है कि भारत के उत्तर-पूर्व क्षेत्र में विद्रोही आंदोलन की गंभीर समस्या है। लेफ्टिनेंट जेनरल एन.के. सिंह के मुताबिक म्यांमार की जमीन पर उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के 30 विद्रोही संगठनों के शिविर कार्यरत हैं। उल्फा के सैनिक प्रधान परेश बरूआ अपने 800 कार्यकर्ताओं के साथ म्यांमार में शरण लिए हुए हैं।

ढाका में सत्ता परिवर्तन के बाद आतंकवादी समूहों को बांगलादेश की जमीन से भारत विरोधी गतिविधियाँ चलाना कठिन हो रहा है। अत: उत्तर-पूर्व के विद्रोहियों के लिए म्यांमार अभी भी सबसे सुरक्षित क्षेत्र है। भारत के तीन उत्तर-पूर्व राज्यों मणिपुर, नागालैंड एवं मिजोरम की 1643 किमी. की बाड़ रहित सीमा म्यांमार से जुड़ी हुई है। भारत और म्यांमार ने सुनहरी चिड़िया (गोल्डेनबर्ड) के नाम से उत्तर-पूर्वी राज्यों के विद्रोही समूहों के खिलाफ संयुक्त कार्रवाई की थी। हालांकि आँग-शान-सू-की को भारत सरकार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समझ के लिए नेहरू शान्ति पुरस्कार देने के बाद यह कार्रवाई रोक दी गई, लेकिन उसके बाद फरवरी, 2000 से मई, 2001 तक म्यांमार ने फिर से विद्रोहियों के खिलाफ सैनिक कार्रवाई शुरु की।

म्यांमार के सैनिक शासन प्रधान थानस्वे की 24 अक्टूबर, 2004 के भारत यात्रा के दौरान म्यांमार की सेना ने भारतीय विद्रोहियों के खिलाफ वर्ष 2005 एवं 2006 में कार्रवाईयाँ की। लेकिन म्यांमार की प्रतिबद्धता के अभाव में इन कार्रवाईयों का नतीजा अप्रभावी साबित हुआ। वर्ष 2006 में भारत के सेनानायक जेनरल जे.जे. सिंह ने म्यांमार के सेनानायक माँग-आए से यागोन में भेंट की। उसके बाद से दोनों देशों के तीनों सैनिक सेवाओं (जल, थल एवं नभ) के सेनापतियों ने एक-दूसरे से भेंट की है। भारत ने उसके बाद म्यांमार की सेना को लड़ाई के मैदान के लिए प्रशिक्षण देने एवं वर्दी की आपूर्ति करने की बात कही है। भारत ने हेलीकॉप्टर का एक बेड़ा तथा म्यांमार की सेना में रूसी हथियारों के रख-रखाव में भी सहायता करने का आश्वासन दिया है। म्यांमार को भी विद्रोही गतिविधियों का सामना करना पड़ता है। इसके ऊपरी क्षेत्र में करेन राष्ट्रीय मुक्ति सेना तथा कचिन स्वाधीन सेना जैसे विद्रोही संगठन सक्रिय हैं। इन विद्रोही संगठनों की मजबूत उपस्थिति के चलते, यागोन की राजनैतिक सत्ता की उपस्थिति ऊपरी म्यांमार के बहुत से हिस्सों में नहीं है। गरीबी, शिक्षा के अभाव एवं जुड़ाव के अभाव में परिस्थिति और भी जटिल हो गई है। यागोन के लिए इन क्षेत्रों में कार्रवाई करना मुश्किल है।[2]

भारत-म्यांमार मित्रता पथ के निर्माण से उत्तर-पश्चिम म्यांमार से सटे नागालैंड, मणिपुर, मिजोरम में जंगल के बाहर जो विद्रोही समूह कार्यरत हैं, उनके खिलाफ इस जुड़ाव के बाद कार्रवाई करना आसान होगा।

तीव्र संघर्षों से तथा अस्थिर राजनैतिक परिस्थिति के चलते सैनिक शासकों के लिए बांग्लादेश एवं भूटान की तरह उत्तर-पूर्व के विद्रोहियों का मुकाबला करने में व्यावहारिक कठिनाईयाँ हैं। ढुलमुल म्यांमार द्वारा उत्तर-पूर्व के विद्रोहियों के खिलाफ कार्रवाई करने की प्रतीक्षा में बैठे रहने के बदले में भारत को बैठकर उस समस्या का एक यथार्थपरक हल निकालने की जरूरत है। सेना की कार्रवाई के जरिये स्थाई समाधान तक नहीं पहुँचा जा सकता है। बल्कि यह समाज में क्रूरता को ही

बढ़ावा देगा। अत: यही समय है कि भारत पूरी परिस्थिति पर फिर से नजर डाले, क्योंकि इसी नीति से उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की यह वर्तमान त्रासद स्थिति हुई है। भारत सरकार की घोषित नीति के अनुरूप सभी विद्रोही गुटों के साथ राजनैतिक बातचीत शुरु की जाय। इसके साथ-साथ भारत एवं म्यांमार के बीच नजदीकी सैनिक सहयोग से उत्तर-पूर्व के विद्रोही बातचीत के लिए आगे आएँगे जिससे इस प्रक्रिया में भारत की ताकत बढ़ेगी। बदली परिस्थिति में यह आवश्यक है कि दरवाजे को आधा खोलने के बजाय, पूरा खोल दिया जाय, जिसके आधार पर विश्वास का वातावरण तैयार किया जा सके।[3]

म्यांमार में उथल-पुथल

45 वर्षों तक सैनिक शासन के बाद म्यांमार एक बड़े बदलाव के दौर से गुजर रहा है। वर्ष 2010 में पहला बहुदलीय चुनाव कराया गया। जब म्यांमार नर्गिस चक्रवात से क्षत-विक्षत हो रहा था, उस समय तीन सप्ताह की सूचना पर एक रायशुमारी के जरिये संविधान को स्वीकृत किया जा रहा था। एक लम्बे समय तक संविधान निर्माण की प्रक्रिया जारी रहने के बावजूद यह आम लोगों की आकांक्षा को प्रतिबिम्बित नहीं करता है। शुरू में जब 1992 में आम चुनाव हुए तो जनतंत्र के लिए राष्ट्रीय संघ (नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी) ने चुनाव में जबर्दस्त सफलता हासिल की। सैनिक शासकों ने घोषणा की थी कि नव-निर्वाचित सदस्य संविधान का मसौदा तैयार करेंगे। राष्ट्रीय कन्वेंशन को मसौदा तैयार करने की जिम्मेदारी मिली लेकिन निर्वाचित प्रतिनिधियों को उसमें बहस करने का मौका नहीं दिया गया। हालांकि 15 वर्षों तक बीच-बीच में बैठकें होती रहीं, लेकिन इसमें मुश्किल से दो प्रतिशत निर्वाचित प्रतिनिधियों को मसौदा को अन्तिम रूप से तैयार करने में शामिल किया जा सका।

राष्ट्रीय कन्वेंशन के सदस्यों को सैनिक शासकों द्वारा मनमाने तौर पर सेना द्वारा तैयार मसौदा पर मुहर लगाने के लिए चुना गया।

संविधान निर्माता के इस दम-घोंटू दौर में नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी के सदस्यों का रोकने के लिए, सैनिक शासकों ने आँग-शान-सू-की को घर के अन्दर नजरबंद रखा। नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी के सदस्यों को अपना विचार जनता के बीच नहीं रखने दिया गया, बल्कि उन्हें खदेड़ा गया और यहाँ तक कि दंडित किया गया। नया संविधान में आदिम आदिवासी समुदायों के स्वायत्तता जैसी वैधानिक माँगों को भी स्थान नहीं मिला है जिसके लिए वे समुदाय पिछले चार दशकों से संघर्ष चला रहे हैं। मसौदे पर जनता के बीच कोई बहस नहीं हुई है।

अत: इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि नया संविधान एक दिखावा है। इसका उद्देश्य सही मायने में जनतांत्रिक सरकार के हाथों सत्ता सौंपना नहीं है। इसके दो उद्देश्य दिखाई पड़ते हैं। इसके जरिये सैनिक शासन अपनी सत्ता निर्वाचित सरकार के ऊपर लादना चाहती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को खुश किया जा सके कि म्यांमार में जनतंत्र की पुनर्स्थापना हो रही है जिससे म्यांमार के खिलाफ लगा प्रतिबंध हटाया जा सके। म्यांमार की राष्ट्रीय सेना का इस संविधान में सबसे ऊचा स्थान है।

अध्यक्ष का पद सेना के अधिकारी के लिए सुरक्षित होगा। उसे केन्द्र सरकार के मंत्रियों एवं राज्य के मुख्यमंत्रियों को नियुक्त करने का अधिकार होगा। उसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को भी नामित करने का अधिकार होगा। म्यांमार की राष्ट्रीय सेना को सशस्त्र सेना के सभी मामलों में स्वतंत्र प्रशासन का अधिकार होगा और देश के उच्चतम न्यायालय के अधिकार की परिधि से वह बाहर रहेगा। सेना के प्रधान सेनापति रक्षा मंत्रालय, सुरक्षा तथा गृह मामलों तथा सीमा मामलों के मंत्रियों को नियुक्त करेंगे। राज्य, क्षेत्र, स्वशासित मंडलों, विशेष क्षेत्रों के सीमा मामलों के मंत्रियों एवं सशस्त्र

सेना अधिकारियों को सुरक्षा अधिकारियों के रूप में नियुक्त करेंगे। केन्द्र के ऊपर एवं निचले सदन के 25 प्रतिशत सदस्यों को देश की सशस्त्र सेना के प्रधान नामित करेंगे। इन दोनों सदनों की 25 प्रतिशत सीटें देश की सशस्त्र सेना के लिए आरक्षित हैं।[4]

राजनैतिक जनतंत्र की समस्याएँ

देश के राष्ट्रपति कोई सैनिक पदाधिकारी ही होंगे। ऐसे व्यक्ति जिनके बच्चे एवं खुद दंपति का किसी विदेशी सत्ता से संबंध है, उन्हें राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है। अत: सैनिक शासकों ने यह सुनिश्चित कर दिया है कि आँग-शान-सू-की किसी जनतांत्रिक सरकार में उच्चतम पद पर निर्वाचित न हो सके क्योंकि उनके बच्चे एवं पति ब्रिटिश नागरिक हैं। आँग-शान-सू-की के सक्रिय नेतृत्व के बगैर देश में जनतंत्र के निर्माण की दिशा में उठाया गया पहला कदम अन्तत: म्यांमार में एक सम्पूर्ण जनतंत्र के रूप में सामने आयेगा, उस पर शंका के बादल छाये हुए हैं। यहाँ तक कि सीमित जनतंत्र के तरफ भी जाने की प्रक्रिया उतनी सहज नहीं होगी। सेना के हाथ में असीमित सत्ता रहने के चलते, नागरिक सरकार को देश के लिए चुनौतीपूर्ण तीन बड़े मामलों में कोई स्वतंत्र पहल लेना संभव नहीं होगा।

जनपक्षी योजनाओं को लागू करने, प्रशासनिक संस्थाओं की विश्वसनीयता को स्थापित करने तथा तमाम लोगों को समान नागरिक अधिकार प्रदान करना, चाहे वे किसी भी आदिम आदिवासी समुदाय के क्यों न हों। आँग-शान-सू-की के चुनाव अभियान में सक्रिय भागीदारी के बगैर, नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी दल द्वारा 1992 की जीत की पुनरावृत्ति मुश्किल है और किसी भी सूरत में सेना यह कोशिश करेगी कि 'नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी' चुनाव के दायरे से बाहर चली जाय। अवसरवादी मिली-जुली सरकारें, आन्तरिक विवादों के लिए बदनाम रही है। इन सरकारों में लगातार दल-बदल एवं भ्रष्टाचार का बोलबाला रहता है। अत: मिली-जुली सरकार का सफलतापूर्वक संचालन संभव नहीं दिखाई पड़ता है। इससे सेना की इस समझ को और मजबूती मिलेगी कि वही राष्ट्रीय स्थिरता को सुनिश्चित कर सकती है।[5]

आदिम आदिवासी समूहों की विद्रोही गतिविधियाँ

वर्ष 1948 से लेकर आज तक आदिम आदिवासी समूहों की विद्रोही गतिविधियाँ म्यांमार का काला पक्ष है। सैनिक शासकों ने हाल के दिनों में उन विद्रोही समूहों को अस्त्र-शस्त्र छोड़ने के लिए राजी किया है जिनके साथ सैनिक शासकों का युद्ध विराम समझौता हुआ है तथा उन लड़ाकों को सीमा सुरक्षा बलों के रूप में भर्ती किया है। हालांकि यह प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई है। उत्तर-पूर्व की सीमा जो चीन से जुड़ी हुई है, वहाँ के तीन बड़े विद्रोही समूह, म्यांमार राष्ट्रीय जनतांत्रिक, संधि सेना (एम.एन.डी.ए.ए.) संयुक्त राज्य सेना (यू.एन.एस.डब्ल्यू.ए.) तथा राष्ट्रीय जनतांत्रिक संधि सेना (एम.डी.डी.ए.) ने सेना द्वारा अस्त्र-शस्त्र परित्याग करने के अनुरोध को नकार दिया है तथा कचिन स्वतंत्र संगठन भी अपना पैर खींच रहा है। म्यांमार राष्ट्रीय जनतांत्रिक संधि सेना के कामोग वाहिनी, जो चीनी-आदिम आदिवासी समूहों से आते हैं, एक महीना पूर्व म्यांमार की राष्ट्रीय सेना के साथ झड़प हुई जिसके चलते कोकांग समुदाय के 1 हजार लोगों ने चीन की सीमा में शरण लिया है।

संयुक्त वा राज्य सेना, जो म्यांमार राष्ट्रीय जनतांत्रिक संधि सेना का मित्र संगठन है, वह चीन और थाईलैंड की सीमा के पास बड़े विद्रोही संगठनों में से एक है। करेन राष्ट्रीय मुक्ति सेना ने म्यांमार राष्ट्रीय सेना के साथ युद्ध विराम समझौता पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया और यह संगठन थाईखीमर के पास राष्ट्रीय सेना के खिलाफ संघर्षरत हैं। नागरिक सरकार के गठन के बाद

भी इन विद्रोही गुटों का मुख्य धारा में शामिल होने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं है। जब तक उनकी स्वायत्तता के सवाल को हल नहीं किया जाता है तब तक उनकी विद्रोही सक्रियता बरकरार रहेगी। ऐतिहासिक तौर पर, सेना ने आदिम आदिवासी समूहों की विद्रोहपूर्ण कार्रवाईयों के आधार पर सत्ता पर अपनी पकड़ की वैधानिकता को स्थापित किया है। सेना द्वारा रक्षा, सीमा मामले एवं गृह मामलों को अपने हाथ में रखने से नागरिक सरकार को इन मामलों को राजनैतिक रूप से सुलझाने का मौका नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के द्वन्द्व

अगर चुनाव के जरिये जनतंत्र की पुनर्स्थापना हो जाती है तो म्यांमार के प्रति अमरीका की नई पहल के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबंध हटाये जा सकते हैं। एक बार जब प्रतिबंध हटा लिया जाता है तो फिर म्यांमार के अकूत प्राकृतिक संपदा, जिसमें तेल एवं प्राकृतिक गैस शामिल हैं, उस पर कब्जा की मारामारी शुरु हो जायेगी। इसके चलते म्यांमार अन्तर्राष्ट्रीय ताकतों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा हो जायेगा। भारत और चीन इस घटना विकास को सतर्कता के साथ देखने का काम करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबंधों के दौर में चीन ने म्यांमार में अपनी रणनीतिक एवं आर्थिक प्रभावों को बढ़ाने का काम किया है और सैनिक शासकों ने इस अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबंधों से जूझने में सहायता प्रदान की है। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में वीटो अधिकार वाले चीन ने सैनिक शासकों को एक से ज्यादा अवसरों पर सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाईयों से बचाने का काम किया है। इसके चलते बर्मा की राष्ट्रीय सेना के साथ मजबूत संबंध कायम करते हुए चीन ने इस देश के अन्दर मजबूती से अपने पाँव जमा लिये हैं। चीन का इस देश के व्यापार, आर्थिक विकास एवं वाणिज्य पर वर्चस्व है। यह प्रभाव राजनैतिक क्षेत्र में भी चला जायेगा।[6]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि चीन ने सैनिक शासन के रूप में एक पराश्रयी सत्ता का निर्माण किया है। चीन, म्यांमार पर अपनी इस पकड़ को ढीला नहीं करना चाहता है क्योंकि इससे उसे चीन की मुख्य भूमि से भारत तथा भारतीय महासागर तक पहुँचने का रास्ता मिलता है। म्यांमार का 1930 किमी. लम्बा समुद्री किनारा, बंगाल की खाड़ी के पूर्वी घुमावदार हिस्से को अपने आगोश में रखता है जो एक समुद्र को दूसरे समुद्र से जोड़ने वाले नहरनुमा संकीर्ण मलक्का की तरफ झुका हुआ है जिससे चीन की जल सेना को अपनी पहुँच के विस्तार में सहायता मिलेगी। अमरीका के साथ बहुत करीबी आर्थिक जुड़ाव के बावजूद चीन इस क्षेत्र में अमरीका के रणनीति विस्तार के बारे में चिन्तित है। भारत और अमरीका के बीच बढ़ते रणनीतिक एकता ने इस संदेह को और ज्यादा बढ़ाया है। अत: म्यांमार में बड़ी भूमिका निभाने को उत्सुक भारत एवं अन्य राष्ट्रों के सामने चीन सबसे बड़ी चुनौती के रूप में है।[7]

भारत की सुरक्षा की जरूरतें

भू-रणनीति को देखते हुए भारत को रणनीतिक, आर्थिक एवं विकास के मद्देनजर, म्यांमार को विदेश नीति के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिए। म्यांमार की भौगोलिक उपस्थिति भारत-एशियान व्यापार रास्ते के दोनों ओर है जिससे भारत के लिए म्यांमार का मूल्य बहुत ज्यादा हो जाता है। यह जमीन से चारों ओर से घिरे उत्तर-पूर्व के लिए बाहरी भूमि एवं समुद्र का रास्ता खोल सकता है। म्यांमार की समुद्री सीमा अण्डमान द्वीप से 30 किमी. दूर है जिससे समुद्री सुरक्षा की संभावना बढ़ जाती है। दुर्भाग्य से भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा के सन्दर्भ में म्यांमार के रणनीतिक महत्व को उतना स्थान नहीं दिया गया है जितना उसको चाहिए। उत्तर-पूर्व भारत के अन्य हिस्सों के

60.30 किमी. चौड़े सिलीगुड़ी के रास्ते से जुड़ा हुआ है, जिसके एक ओर बांग्लादेश और दूसरी ओर नेपाल है। अत: रणनीतिक तौर पर उत्तर-पूर्व अपनी पड़ोस में हो रहे घटना विकास से युद्ध एवं शांति दोनों समय में प्रभावित होगा। बांग्लादेश से बड़े पैमाने पर बंगालियों के इस क्षेत्र में आगमन से विभिन्न समुदायों के बीच असंतुलन पैदा हो गया है जिससे सामाजिक एवं आर्थिक अशांति पैदा हो गई है। आदिम आदिवासियों की खास पहचान को लेकर इस क्षेत्र में अलगाववादी विद्रोही गतिविधियाँ शुरू हो गई हैं। चीन और पाकिस्तान से समय-समय पर मिलने वाली सहायता उनके जीवित रहने के लिए आवश्यक है। बांग्लादेश एवं म्यांमार में भी उन्हें अपनी गतिविधियाँ चलाने का सुरक्षित स्थान प्राप्त है।

भारत ने अपनी 'पूर्व की ओर देखो' नीति के तहत 1992 से म्यांमार के सैनिक शासन के साथ अपना संबंध सुधारने का काम शुरु किया है। इस नीति की सफलता अत्यन्त सीमित रही है। आश्वासनों के बावजूद म्यांमार की सत्ता ने भारतीय विद्रोही समूहों को अपनी जमीन से बाहर खदेड़ने में बहुत कम रूचि दिखाई है। इन विद्रोहियों के खिलाफ संयुक्त अभियान में भी यह उदासीन रहा है।

बांग्लादेश द्वारा अपने क्षेत्र से भारतीय सामानों को उत्तर-पूर्व के क्षेत्र में ले जाने के प्रति हिचकिचाहट से भी उत्तर-पूर्व के विकास में बाधा उत्पन्न हुई है। इस समस्या के हल के लिए भारत बहु-आयामी योजना के जरिये उत्तर-पूर्व से म्यांमार एवं एशियान देशों एवं हिन्द महासागर तक रोड एवं समुद्री रास्ता खोलने की योजना लागू कर रहा है। हालांकि भारत की सित्वे बहुआयामी परियोजना तथा बहुचर्चित म्यांमार भारत पाईप लाईन जैसी दो आधारभूत परियोजना की प्रगति अत्यन्त धीमी है।

पिछले दो दशकों में दोनों देशों के बीच व्यापार एवं विकास के संबंध में सुधार हुए हैं। लेकिन दोनों देशों की निष्क्रियता के चलते दोनों देशों के बीच व्यापार के संबंध में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। द्विपक्षीय व्यापार को बढ़ाने में दोनों देशों में कोई उत्साह नजर नहीं आता है।

सैनिक शासकों के लिए जनतंत्र की पुनर्स्थापना का सवाह अत्यन्त संवेदनशील है। इसे देखते हुए, भारत ने इस मुद्दे पर जोर नहीं दिया है तथा आँग-शान-सू-की की रिहाई के बारे में भी मौन साध लिया है। भारत द्वारा जनतंत्र के लिए होने वाले संघर्ष की अनदेखी करने तथा सिर्फ सैनिक शासकों के साथ अपना संबंध कायम करने की बात से पूरी दुनिया के नागरिक समाज को सदमा लगा है। इस प्रक्रिया में उन जनतांत्रिक ताकतों के ही भारत प्रतिद्वन्द्विता चीन के साथ होगी और इस मायने में चीन को पहले से ही भू-राजनीतिक एवं आर्थिक लाभ की अग्रता प्राप्त है। इसके साथ-साथ चीन संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य है। अत: चीन, भारत के काम को आसान नहीं होने देगा। भारत के लिए लम्बे समय की राजनीति के लिए सबसे अच्छा यही होगा कि वह म्यांमार की राजनैतिक पार्टियों एवं नयी सरकार के साथ अपने संबंध में सुधार करें।

अन्य संभावित कठिनाईयाँ

कुछ और संभावित खतरे हैं जो प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष तौर पर पूरे क्षेत्र को अस्थिर कर सकते हैं। ये मुद्दे भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ जुड़े हुए हैं तथा उत्तर-पूर्व उनके कार्यकलापों का केन्द्र बन सकता है।[8]

तिब्बत का मामला

दलाई लामा वृद्ध हो रहे हैं और तिब्बती शरणार्थी खासकर युवा पीढ़ी, चीन द्वारा तिब्बत के बारे में अपनाए गये रूख के प्रति उबल रहे हैं। अगर यह मामला हाथ से बाहर जाता है तो यह अरूणाचल के धर्मावलम्बियों को प्रभावित कर सकता है। इसके चलते भारत-तिब्बत सीमा और भारत-म्यांमार

सीमा भी सक्रिय हो सकती है। इसके साथ-साथ चीन का अरूणाचल की सीमा पर दावे के चलते चीन के साथ संघर्ष भी हो सकता है।

आन्तरिक तोड़-फोड़ में चीन का समर्थन

हालांकि भारत और चीन आपस में सौहार्द्रपूर्ण संबंध कायम करने की चेष्टा कर रहे हैं। लेकिन मणिपुर एवं असम के विद्रोही गुटों को चीन द्वारा समर्थन करने और उसके जरिये भारत पर दबाव बनाने की उसकी क्षमता की अनदेखी नहीं करनी चाहिए। म्यांमार अपनी जमीन पर विद्रोहियों को सुरक्षित एवं स्वतंत्र स्थान देने से इन्कार करके एक बड़ी भूमिका निभा सकता है।

नेपाल में माओवादी

नेपाल में चीनी समर्थक माओवादियों के उदय और सत्ता पर पहुँच और उनके प्रभाव विस्तार से चीन को नेपाल भारत के प्रभाव के बरवस अपना प्रभाव बढ़ाने का एक बड़ा अवसर प्राप्त हुआ है। अगर चीन नेपाल पर अपनी रणनीतिक पकड़ मजबूत करता है तो उत्तर-पूर्व की स्थिति और ज्यादा संकटपूर्ण हो जायेगी। ऐसी परिस्थिति में, इस क्षेत्र में कोई भी सैनिक संघर्ष उत्तर-पूर्व को भारत से अलग-अलग कर देगा।[9]

म्यांमार की परमाणविक महत्वाकांक्षा

वर्ष 2002 की शुरुआत में म्यांमार ने रूस के सहयोग से शान्तिपूर्ण उद्देश्य के लिए परमाणु शोध रियेक्टर के निर्माण की योजना को हरी झंडी दी। चुने हुए छात्रों एवं सैनिक पदाधिकारियों को मास्को में परमाणु विज्ञान के बारे में प्रशिक्षण दिया गया। रंगून एवं माण्डले के विश्वविद्यालयों में आणविक भौतिक विज्ञान विभागों की स्थापनाएँ हुई हैं। इन विभागों में छात्रों के चयन पर सैनिक शासकों का नियंत्रण है। बहुत से जगहों में यूरेनियम के भंडार पाये गये हैं। ये भंडार मागवे, ताँगविंगी, क्योक फाइगोन, मोगोक के पॉओनपिंन और दक्षिण तेनासेरिम के काओसिन्द क्षेत्रों में पाये गये हैं। रूसी इन खदानों से यूरेनियम निकाल रहे हैं।

इस पृष्ठभूमि में म्यांमार एवं उत्तर कोरिया के बीच परमाणु विकास के संबंध में हुए गुप्त समझौते की सूचना का बड़ा महत्व है। अमेरिका एवं थाइलैंड ने इस सूचना पर अपनी चिन्ता जाहिर की है। आस्ट्रेलिया के रणनीतिक विश्लेषक डेसमाण्ड बॉलन तथा थाइलैंड में रह रहे पत्रकार फिल थार्नटन में 2007 में दावा किया था कि म्यांमार ने एक परमाणु रियेक्टर का निर्माण किया है जो प्रसंस्करण की प्रक्रिया से आगे बढ़ते हुए परमाणु हथियार बनाने के लिए उपयोगी प्लूटोनियम प्राप्त कर लेगा। ये सूचनाएँ म्यांमार से भागकर आए लोगों द्वारा दी गई है जिसकी सत्यता के बारे में अभी जानना बाकी है।

अगर यह सच है तो इस क्षेत्र के लिए यह एक नयी परिस्थिति होगी। यह वैसी ही परिस्थिति का निर्माण करेगा जैसा भारत को पश्चिमी मोर्चे पर एक अस्थिर पाकिस्तान के रूप में सामना करना पड़ रहा है। हालांकि म्यांमार परमाणु हथियार के खेल में शामिल होगा, इसकी संभावना नजर नहीं आती है लेकिन भारत को इस घटना विकास पर सतर्कतापूर्वक नजर रखनी पड़ेगी।

म्यांमार वासियों की स्थिरता का संबंध सीधे तौर पर स्थिर जनतंत्र के निर्माण के साथ जुड़ा हुआ है। म्यांमार एक स्थिर जनतांत्रिक देश के रूप में बदले, यह इस क्षेत्र के भविष्य के हित में है। 2010 के चुनाव के बाद जब नागरिक सरकार का गठन हो जाता है, उसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की उदासीनता बढ़ सकती है। म्यांमारवासियों के पिछले चार दशकों के आन्दोलन का यह अनुभव है कि उन्हें क्रूर शासन से तब तक कोई तार्किक उत्तर नहीं मिला जब तक उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन नहीं मिला।

म्यांमार में स्थिरता की कुँजी उसके दो बड़े पड़ोसियों भारत और चीन के साथ-साथ अमेरिका के हाथ में है। उन तीनों के एकताबद्ध प्रयास से ही कोई अर्थपूर्ण परिणाम प्राप्त हो सकता है। अभी इन तीनों देशों की समझ का परिप्रेक्ष्य म्यांमार में उनके रणनीतिक हितों के साथ जुड़ा हुआ है। लेकिन यह आवश्यक है कि वे एक साथ म्यांमार में परिवर्तन की नई परिस्थिति पैदा करने का काम करें। उनका यह मिला-जुला प्रयास म्यांमार को सैनिक शासन के जंजीर से मुक्त करेगा।

म्यांमार में जनतंत्र के विकास के लिए भारत का एक कार्यक्रम होना चाहिए। एक मजबूत जनतांत्रिक पहचान के साथ भारत राजनैतिक नेताओं के साथ अपना संबंध फिर से जोड़ने में सफल हो सकता है और इससे दोनों देशों को फायदा होगा। म्यांमार एवं एशियान देशों के साथ भारत को अपना व्यापारिक एवं विकास से जुड़े संबंध को म्यांमार के सत्ता परिवर्तन के प्रभाव से अलग करना चाहिए। इसे थाईलैंड एवं अन्य एशियान देशों के साथ ऐसी रणनीति विकसित करनी चाहिए जिससे यह वास्तविक रूप से साकार हो सके।

जैसा कि बांग्लादेश में अवामी लीग जैसी मित्रवत् सरकार है, भारत को बांग्लादेश के माध्यम से वैकल्पिक सड़क एवं समुद्री रास्ता खोलना चाहिए, जिससे उत्तर-पूर्व में व्यापार और उद्योग के विकास का रास्ता खुल सके।[10]

संदर्भ ग्रन्थसूची

1. भारत की म्यांमार नीति, उत्तर-पूर्व के कर सकता है।
2. उत्तर-पूर्व विद्रोहियों पर म्यांमार का प्रभाव बी.बी. शर्मा, उत्तर-पूर्व इंडिया न्यूज।
3. वही, उत्तर-पूर्व इंडिया न्यूज।
4. वही
5. वही
6. वही
7. वही
8. म्यांमार- म्यांमार का घटना विकास एवं उत्तर-पूर्व की समीक्षा, कर्नल आर. हरिहरण डब्ल्यू. डब्ल्यू.डब्ल्यू. दक्षिण एशिया विश्लेषण संगठन।
9. वही, कर्नल आर. हरिहरण।
10. वही, कर्नल आर. हरिहरण।

भारत में लोक सेवायें: साख पर सवाल

मनीष चन्द्र

एम्०फिल०, सेंटर फॉर फेडरल स्टडीज, जामिया हमदर्द, दिल्ली

सीधे सरल शब्दों में कहें तो लोक सेवा से हमारा अभिप्राय सरकार के उन स्थायी और गैर राजनीतिक अधिकारियों से है जो न्यायांग अथवा सेना के सदस्य नहीं होते और जो एक बार सरकारी नौकरी में आने के बाद सामान्यत: अवकाश ग्रहण करने की आयु तक उस पर बने रहते हैं।[1] यह वास्तव में लोक नीति के रूप में अभिव्यक्त राज्य की इच्छाओं को क्रियान्वित करने का प्रमुख साधन हैं जो आधुनिक राज्य के कार्य संचालन के लिए अपरिहार्य है। श्रीराम माहेश्वरी के अनुसार ''लोक सेवा के दो अभिप्राय होते हैं- (1) अनिवार्य वस्तु की आपूर्ति का कार्य, (2) सरकार द्वारा समर्थित रोजगार की व्यवस्था। सरकार द्वारा समर्थित सेवा को लोक सेवा कहा जाता है, जिसका आशय प्रतियोगितात्मक परीक्षा द्वारा सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति की एक विधि है।''[2] लोक सेवा कानूनों को अमल में लाने वाला निकाय तो है ही साथ ही यह नियमों के निर्माण में भी सक्रिय रूप से शामिल है। पेशेवर दक्षता के कारण एक लोक सेवक अपने राजनीतिक प्रमुख को न सिर्फ विधि निर्माण में सहयोग प्रदान करता है बल्कि काफी हद तक विधि को आकार भी प्रदान करता है, खासतौर पर वरिष्ठ लोक सेवक अपना ज्यादातर समय इस तरह की गतिविधियों में ही लगाता है। लोक सेवाएँ कराधान की प्राप्तियों का व्यय करती हैं और इस बात का भी निर्णय लेती हैं कि राजस्व की उगाही कितनी मात्रा में करनी है और इसे किस तरह से वसूलना है। ग्लैडन ने लोक सेवा के अर्थ को सार रूप में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''लोक सेवा के लिए अनिवार्यताओं में जो बातें शामिल हैं वे हैं- इसका चयन निष्पक्ष रीति से किया जाएगा, यह प्रशासन कला में दक्ष होगी, राजनीतिक रूप से तटस्थ होगी तथा समाज के प्रति सेवा की भावना से ओत-प्रोत होगी।[3] भारत में लोक सेवा का इतिहास वैसे तो काफी पुराना है लेकिन आधुनिक संदर्भ में इसके उदय को ईस्ट इंडिया कंपनी से जोड़कर देखा जा सकता है। भारत में सर्वप्रथम लोक सेवा शब्द का प्रयोग 19वीं सदी में ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रशासन में लगे उन कर्मचारियों के लिए किया गया जो उसकी सैनिक सेवा में नहीं होते थे बल्कि कर वसूली आदि के दीवानी या असैनिक कार्यों में लगे होते थे। दीवानी कार्यों में लगे होने के कारण उन्हें सिविल सेवा के कर्मचारी कहा जाता था।[4] भारतीय दंड संहिता की धारा 21(a) में लोक सेवक की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि 'सरकारी सेवारत या वेतन पाने वाला अथवा सरकारी कार्य के लिए शुल्क या कमीशन पाने वाला व्यक्ति लोक सेवक की श्रेणी में आता है।[5]'

भारत में लोक सेवाएँ प्रतिष्ठा और अधिकार दोनों ही दृष्टियों से अपना विशेष महत्व रखती हैं। आजादी के बाद सरकार द्वारा सामाजिक आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को प्राथमिकता के आधार पर संपन्न करने की सोच ने लोक सेवाओं के कार्यक्षेत्र में आशातित विस्तार किया और लोक सेवाएँ पालने से लेकर चिता तक व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करने वाले राज्य के मूर्त उपकरण के रूप में सामने आयीं। भारत में लोक सेवाओं की भूमिका को मुख्य रूप से निम्नलिखित संदर्भों में देखा जा सकता है-

1. नीति क्रियान्वयन में भूमिका- भारत में लोक नीतियों के क्रियान्वयन इकाई के रूप में लोक सेवाएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। यह सरकार के अधिकांश दैनिक कार्यों को संपन्न करने

वाली संस्था है। यह नौकरशाही ही है जो सरकार के कार्मिकों, निधि, संपदा तथा वैधानिक शक्तियों का नियंत्रण करती है और कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायिक निर्णयकर्ताओं के अधिकांश निर्देशों को प्राप्त करती है। नीति क्रियान्वयन से संबंधित लोक सेवकों का कार्य न सिर्फ कार्यरत सरकार की राजनीतिक नीतियों के अनुरूप सीमित होता है बल्कि राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित भी होता है।

2. प्रदत्त विधायन एवं अन्य प्रत्यायोजित कार्यों का निपटान- प्रत्यायोजित या प्रदत्त विधायन से अभिप्राय संसद की किसी विधि द्वारा प्रदत्त सत्ता के अंतर्गत कार्यपालिका द्वारा नियमों तथा उपनियमों का निर्माण करने से है। यह एक अर्द्ध विधायी कार्य है जो लोक सेवा द्वारा संपन्न किया जाता है। सिद्धांत रूप में देखें तो ''प्रजातंत्र में सभी प्रयोजनार्थ अंतिम कार्यपालक प्राधिकार राजनीतिक कार्यपालिका में विहित है जो संसद के माध्यम से जनता के प्रति जवाबदेह है तथापि किसी बड़े संगठन की तरह ही सरकार को भी विभिन्न स्तरों पर और भिन्न-भिन्न स्थितियों में परिभाषित कार्य करने होते हैं। इनके लिए व्यावहारिक आधार पर लोक सेवकों को सरकार के विभिन्न स्तरों पर प्राधिकार और जिम्मेदारी का प्रत्यायोजन आवश्यक है। ऐसा प्रत्यायोजन अधीनस्थ के सिद्धांतों के अनुरूप है जिससे सरकार को लोगों के निकट लाने में मदद मिलती है।''[6] भारत में लोक सेवकों को प्रत्यायोजित अधिकार संविधान एवं विधि के सुस्पष्ट दायरे में होते हैं जिनकी निगरानी अधिनस्थ विधायन समिति द्वारा की जाती है।

3. प्रशासकीय अधिनिर्णय- प्रशासकीय अधिनिर्णय का अर्थ है 'किसी प्रशासनिक अभिकरण द्वारा कानून तथा तथ्य के आधार पर किसी गैर सरकारी पक्ष से संबंधित विवाद की जाँच तथा उस पर निर्णय देना''।[7] आमतौर पर आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य के अंतर्गत विवादों के निपटारे से संबंधित न्यायिक शक्तियाँ व कार्य प्राथमिक रूप से न्यायपालिका में निहित होते हैं किंतु समकालीन समाज में राज्य के सामाजिक, आर्थिक गतिविधियों के सक्रिय उपकरण के रूप में अस्तित्व में आने के पश्चात् सरकार द्वारा विविध प्रकार की शक्तियों से युक्त अनेक प्रशासनिक इकाईयों या संस्थाओं का गठन किया गया है जिसमें विवादों के निपटारे हेतु अधिनिर्णय की शक्तियाँ भी सम्मिलित हैं। आज इस बात को लेकर एक वैश्विक सहमति है कि राज्य के न्यायिक कृत्य सिर्फ न्यायपालिका तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि विभिन्न प्रशासनिक एजेंसियों की भी इसमें भूमिका अनवरत बढ़ती जा रही है।[8]

प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की स्थापना मुख्य रूप से साधारण न्यायालयों की खर्चीली एवं विलंबकारी प्रक्रिया, विशेषज्ञों द्वारा निर्णय करने की आवश्यकता, सामाजिक नीतियों को लागू करने की जरूरत तथा साधारण न्यायालयों के पास पहलकारी शक्ति के अभाव जैसे तथ्यों से अभिप्रेरित है। प्रशासनिक न्यायाधिकरण न सिर्फ साधारण न्यायालय प्रणाली के बाहर कार्य करते हैं बल्कि जैसा कि रॉब्सन ने कहा है 'प्रशासकीय न्यायाधिकरण व्यक्ति एवं सार्वजनिक सत्ता के मध्य समुचित संबंध स्थापित करने की दृष्टि से प्रगतिशील होते हैं। वे नागरिकों के लिए स्वतंत्रता तथा न्याय और आधुनिक ढंग की सरकार की आवश्यकताओं के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास करते हैं।''

भारत में प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की चर्चा करते समय 42वें संविधान संशोधन का उल्लेख विशेष रूप से आवश्यक है। भारत में 42वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा अंतर्विष्ट अनुच्छेद 323 क-ख का आशय प्रशासनिक अधिकरणों के उद्देश्यों एवं विनिश्चयों पर अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता हटा देना था। इन अनुच्छेदों को कार्यान्वित करने के लिए विधान बनाना आवश्यक था किंतु श्रीमती इंदिरा गांधी की पहली सरकार को ऐसा करने का समय नहीं मिला। बाद में अनुच्छेद 323 क को प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985 द्वारा क्रियान्वित किया गया। हालांकि एल. चन्द्र कुमार बनाम यूनियन ऑफ इंडिया वाद (1997) के फैसले के बाद अब

स्थिति बदल गई है क्योंकि उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 323 क खंड-2 (घ) और 323 ख, खंड-3 (घ) और इन अनुच्छेदों के अनुसरण में अधिनियमित सभी विधायनों में 'अधिकारिता के अपवर्जन' के खण्डों को भी उतनी सीमा तक असंवैधानिक घोषित कर दिया है जहाँ तक वे उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय की अनुच्छेद 226/227 तथा 32 के अधीन अधिकारिता को अपवर्जित करते थे।[9]

4. लोक नीति निरूपण में भूमिका- जैसा कि थॉमस डाई ने कहा है कि 'सरकार जो भी करने को या न करने को चुनती है वही लोक नीति है'। आमतौर पर लोक नीति का निर्माण एक विधायी कृत्य माना जाता है और प्रशासन या लोक सेवा की भूमिका को सिर्फ नीति क्रियान्वयन तक सीमित रखने की बात की जाती है लेकिन आज वास्तव में लोक सेवा की भूमिका को लेकर इस तरह की कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। आज 'लोक सेवा नीति निर्माताओं के महत्पूर्ण सलाहकार के तौर पर कार्य करती है और प्राय: स्वयं ही नीति निर्माता होती है। लोक सेवक तथा मंत्री, नीति निर्माण के कार्यक्षेत्र में भागीदार होते हैं। यह भागीदारी न सिर्फ उनके विशिष्ट योगदानों पर बल्कि इनकी परस्पर पूरक भूमिका पर आधारित होती हैं।[10]

भारत में विगत दशकों में नौकरशाह निर्णयन प्रक्रिया के महत्वपूर्ण अंग बनकर उभरे हैं। इसकी मुख्य वजह यह है कि राजनीतिक प्रतिष्ठानों ने राजनीतिक प्रकृति के विषयों पर अपना ध्यान केंद्रित करने के लिए स्वेच्छा से अपनी यह भूमिका त्याग दी है।[11]

भारतीय लोक सेवा की इस बहुआयामी भूमिका और इतने बड़े पैमाने पर शक्तियों के केंद्रीकरण ने लोक सेवा के लिए कर्तव्य पथ से विचलन की संभावनाओं को भी उसी अनुपात में बढ़ाया और लार्ड एक्टन की प्रसिद्ध उक्ति ''सत्ता भ्रष्ट करती है और पूर्ण सत्ता पूरी तरह से भ्रष्ट करती है'' चरितार्थ होने लगी। 1950 के दशक में दुनिया के लिए ईर्ष्या का विषय मानी जाने वाली भारतीय लोक सेवा और राजनीतिक वर्ग के सद्गुणों में आयी तीव्र गिरावट यद्यपि आज चौंकाने वाली बात लगती है लेकिन अगर हम इसके कारणों की पड़ताल करें तो सद्गुणों के इस ह्रास को सर्वव्यापी परमिट राज से जोड़कर देखा जा सकता है, जो आयात, उत्पादन तथा निवेश के लिए मंजूरी से जुड़ा हुआ था और जिसमें समय के साथ-साथ लगातार बढ़ोत्तरी होती रही। इस परिमिट राज की व्यवस्था ने लोक सेवकों और राजनीतिक वर्ग के लिए भ्रष्टाचार की असीम संभावनाओं के द्वार खोल दिए। जल्दी ही उच्च स्तरीय नौकरशाही ने यह जान लिया कि लाइसेंस या परमिट का लाभ प्राप्ति हेतु प्रयोग किया जा सकता है, वहीं राजनेताओं ने इस प्रणाली में महत्वपूर्ण वित्तीय समर्थकों के रूप में साधन को देखा।[12] नतीजा यह हुआ कि लोक सेवाओं के भ्रष्ट आचरण हेतु रास्ता साफ हो गया और लोक सेवा भ्रष्टाचार के दलदल में धँसती चली गयी। लोक सेवकों ने नियम पुस्तिका में लिखित तथ्यों की व्याख्या का राजनीतिक सत्ताधारियों द्वारा अपने प्राधिकार के दुरूपयोग को रोकने में सहायक रोध व संतुलन की व्यवस्था की बजाय फाइलों को अनावश्यक रूप से रोकने और पैसे बनाने के साधन के रूप में प्रयोग करना शुरु कर दिया और भ्रष्टाचार के नए-नए रास्ते तलाश लिए। लोक सेवकों की इस प्रवृत्ति के कुछ बेहद अप्रत्याशित और खतरनाक नतीजे सामने आए। हाल के वर्षों में राजनेताओं की जो नई पीढ़ी उभरी है वह नियम पुस्तिकाओं को अवरोध तथा नौकरशाही को अनावश्यक बाधा के रूप में देखती है और इन सबको परे रखकर काम करना चाहती है फलत: संबंधों में संघर्ष की स्थिति लगातार बढ़ती जा रही है। हालांकि यह तस्वीर का सिर्फ एक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि अपने भविष्य एवं वृत्ति को लेकर भयातुर नौकरशाही तथा अपने अल्प कार्यकाल के दौरान काम कर अपने भविष्य को सुरक्षित करने की जल्दबाजी में लगे राजनीतिक वर्ग

ने परस्पर फायदे को ध्यान में रखकर एक अपवित्र गठजोड़ कर लिया है जिसमें भ्रष्टाचार को पुष्पित पल्लवित होने का अवसर मिलता है।[13]

किरण कार्निक ने लोक सेवा में भ्रष्टाचार के लिए मुख्य रूप से जिन कारणों की पहचान की है उनमें शामिल हैं- पकड़े जाने की अल्प तथा सजा होने की नगण्य संभावना, भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए विद्यमान तंत्र के बारे में जानकारी का अभाव तथा सामाजिक बहिष्कार या कलंक का डर नहीं होना। लोक सेवा की एकाधिकारी प्रकृति से भी भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। चूँकि आम जनता के पास अपने काम को करवाने का कोई दूसरा विकल्प नहीं होता लिहाजा प्राय: वह मजबूरी में अपने काम को करवाने के लिए रिश्वत का सहारा लेती है।[14]

भ्रष्ट लोक सेवकों द्वारा प्राय: घूस की मांग और प्राप्ति को संभव बनाने में एक सामान्य कारण जो काफी हद तक जिम्मेदार है वह है सेवाओं की प्रदायगी का समय सुनिश्चित नहीं होना। ऐसी स्थिति में लोक सेवक प्राय: 'स्पीड मनी' के रूप में रिश्वत की माँग करते और इसे प्राप्त करते हैं।[15] प्रशासनिक प्रक्रिया की इस कमी को दूर करने के लिए मध्य प्रदेश, बिहार, दिल्ली, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, असम, पंजाब तथा राजस्थान आदि राज्यों द्वारा सेवा के अधिकार से संबंधित कानून का निर्माण किया गया है जो एक सराहनीय पहल है, जरूरत इस बात की है कि इस तरह के कानून के दायरे में ज्यादा से ज्यादा सेवाओं को लाया जाए तथा जिन राज्यों में इस तरह के कानून नहीं हैं, वह भी इस दिशा में शीघ्र व सार्थक पहल करें। यह वास्तव में अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि हमारे देश में भ्रष्टाचार एक अंतहीन रूदन का विषय बन गया है, इस हद तक कि इसकी चर्चा सिर्फ रस्मी रह गयी है..... यह बढ़ता हुआ विश्वास कि सभी भ्रष्ट हैं लोगों के मन में यह भाव भी पैदा करता है कि चूँकि सभी भ्रष्ट ही हैं तो ईमानदार रहना जो कठिनाईयों से भरा है जरूरी नहीं है और भ्रष्ट आचरण ही व्यावहारिक आचरण है। इस तरह जो भ्रष्ट आचरण से घबराते हैं वे अव्यावहारिक या इससे भी बढ़कर निरे मुर्ख समझे जाते हैं।[16] प्रशासक और लोक सेवक भी इसके अपवाद नहीं हैं। हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो यह बताते हैं कि ईमानदार अधिकारियों (जैसे- अशोक खेमका) का किस तरह बार-बार तबादला कर उन्हें प्रताड़ित किया जाता है ताकि वे अपने राजनीतिक आकाओं के गलत कार्यों का विरोध नहीं करें।[17] बेइमान अधिकारी चाहे जिस पार्टी की भी सरकार बने मजे में रहते हैं क्योंकि उन्हें अपने राजनीतिक आकाओं की मांग के मुताबिक खुद को ढालना आता है।

प्रसिद्ध समीक्षक सुरेन्द्र मोहन का मानना है कि अंग्रेजी राज्य के दिनों से विनिर्मित इस्पाती ढाँचा जिसे निष्पक्ष और निर्भ्रष्ट होना चाहिए अपने उन सभी गुणों से च्यूत होता जा रहा है। भ्रष्टाचार के पनपने में उच्च स्तरीय सत्ता का जो भारी योगदान है उसमें नेता, अफसर और पूंजीपति की मिली-भगत बरसों से चलती रही है और इसके चलते न केवल प्रशासन की साख को भारी धक्का लगा है बल्कि चुनावों व अन्य राजनीतिक कामकाज में थैलियों व थैलिशाहों का बोलबाला हो गया है।[18] यहाँ हमें इस बात को याद रखना होगा कि भारत जैसे देश में राजनीतिक भ्रष्टाचार और प्रशासनिक भ्रष्टाचार हमजोली हैं जो एक-दूसरे को सहयोग व समर्थन प्रदान करते हैं। यही वजह है कि लोक सेवाओं में सुधार हेतु प्रयासों को लेकर काफी लंबे समय तक अनिच्छा का भाव देखने को मिला है। हालांकि हाल के वर्षों में स्थिति में बदलाव हेतु कुछ सकारात्मक प्रयास हुए हैं, जैसे- नागरिक घोषणा पत्र को अपनाना, सूचना का अधिकार कानून का क्रियान्वयन, समयबद्ध सेवा प्रदायगी के कानून पर अमल, सामाजिक अंकेक्षण की व्यवस्था, ई. अभिशासन पहल आदि, लेकिन अभी भी इस दिशा में काफी कुछ किए जाने की आवश्यकता है। अध्ययन बताते हैं कि नागरिक घोषणा पत्र को लेकर

बड़े-बड़े दावे किए जाने के बावजूद देश में इसकी प्रभाविता कमोबेश औसत ही रही है। भारत में नागरिक घोषणा पत्रों को प्रारंभ करने के तकरीबन एक दशक बाद 2007 में पब्लिक अेयर्स सेंटर, बंगलौर ने इसकी प्रभाविता की समीक्षा की और 'इंडियाज सिटिजन्स चार्टर- ए डिकेड ऑफ एक्सपीरियंस' के नाम से प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में इसकी खामियों को उजागर किया जिनमें प्रमुख थीं- घटिया डिजाइन और विषय वस्तु, सार्वजनिक जागरूकता का अभाव, अपर्याप्त आधार कार्य, घोषणा पत्रों को अद्यतन नहीं किया जाना, घोषणा पत्रों के निर्माण में वरिष्ठ नागरिकों एवं विकलांगों की आवश्यकताओं की उपेक्षा आदि।[19] इन कमियों को सुधारने की दिशा में आज भी पर्याप्त पहल नहीं हुई है। ऐसे में सिटिजन चार्टर से जो उम्मीदें हैं वह पूरी नहीं हो पा रही हैं।

यही स्थिति 'सूचना का अधिकार' कानून के साथ भी है जो यद्यपि एक बेहतरीन पहल है तथापि जागरूकता के अभाव, अपर्याप्त रूप से प्रशिक्षित लोक सूचना अधिकारियों, बेकार हो चुके रिकॉर्ड प्रबंधन दिशा निर्देशों, लोक सूचना अधिकारियों में अभिप्रेरणा की कमी, निगरानी एवं निरीक्षण के अभाव, लंबित मामलों में वृद्धि तथा सूचना आयोगों की भौगोलिक अवस्थिति जैसे कारणों से 'सूचना का अधिकार' कानून के अपेक्षित परिणाम नहीं प्राप्त हो रहे हैं।[20] इसके अलावे 'सूचना का अधिकार' कानून के तहत सूचना मांगने वाले सूचना अधिकार कार्यकर्ताओं की हत्या, हत्या के प्रयास तथा झूठे मामलों में फंसा कर उन्हें प्रताड़ित करने जैसे मामलों ने भी इस कानून के जरिये प्रशासनिक भ्रष्टाचार को उजागर करने की कोशिशों को धक्का पहुँचाया है।[21]

भारत में सामाजिक अंकेक्षण को प्रत्यक्षत: स्थानीय स्वशासन के संदर्भ में पारदर्शिता लाने एवं जनसहभागिता निभाने के आंदोलन से लोकप्रियता मिली है और यह प्रशासनिक भ्रष्टाचार पर अंकुश का एक अच्छा माध्यम सिद्ध हो रहा है। इस बात के मद्देनजर कि हमारे देश में सरकारी बजट का 50 प्रतिशत से अधिक हिस्सा कल्याणकारी योजनाओं पर व्यय होता है यह इस बात पर नजर रखने में कि कैसे और कितनी मात्रा में धनराशि अपेक्षित प्राप्तकर्ताओं की बजाए दूसरी तरफ मोड़ी गई महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है[22] तथापि इसका दायरा अभी काफी संकुचित है। भारत में महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम, 2005 वह प्रथम राष्ट्रीय कानून है जिसमें सामाजिक लेखा परीक्षण की प्रक्रिया को विधिवत तथा पूरे मनोयोग से स्वीकार किया गया है।[23] इस तरह की व्यवस्था न सिर्फ दूसरे क्षेत्रों में भी करने की जरूरत है बल्कि इसकी गति पर भी ध्यान देना होगा क्योंकि मुक्त सूचना के इस युग में इस तरह की व्यवस्था का लाभ अगर हम अपेक्षित तेजी के साथ आम जनता तक नहीं पहुँचाते हैं तो इसके अत्यंत घातक परिणाम भी हो सकते हैं।

प्रशासनिक भ्रष्टाचार पर नियंत्रण की दिशा में ई-अभिशासन पहल एक महत्वपूर्ण नवाचार है। राष्ट्रीय ई. गवर्नेंस योजना समेत राज्य स्तर पर किए जाने वाले प्रयासों जैसे- बिहार में 'जानकारी' मॉडल, कर्नाटक में 'भूमि' कार्यक्रम, आंध्र प्रदेश में 'ई-सेवा', उत्तर प्रदेश में 'लोकवाणी' तथा केरल में 'फ्रेंड्स' परियोजना ने न सिर्फ लोंगों के लिए सरकारी सेवाओं तक पहुँच को आसान बनाया है बल्कि भ्रष्टाचार पर भी अंकुश लगाने में सफल रही है। लेकिन इस तरह की ई.अभिशासन पहलों के साथ भी कुछ समस्याएँ हैं जैसे- लोगों में साक्षरता विशेषकर कम्प्यूटर साक्षरता का अभाव, ज्यादातर जानकारियों का अंग्रेजी में उपलब्ध होना, इंटरनेट की अनुपलब्धता तथा अत्यधिक लागत आदि। फिर भी जैसा कि यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, बर्कले के लोक नीति के सहायक प्रोफेसर जेन्किर बुसेल का कहना है तकनीक का सबसे बड़ा योगदान यह है कि इसने नागरिकों की सूचना तक पहुँच सुनिश्चित की है।[24] सूचना के सार्वजनिक रूप से उपलब्ध होने का सबसे बड़ा फायदा यह हुआ है कि अब लोक सेवकों के लिए कई मामलों में लोगों को पहले की तरह अंधेरे में रखना

संभव नहीं है जो भ्रष्टाचार की सबसे बड़ी वजह है। इस संदर्भ में किरण कार्णिक की टिप्पणी अत्यंत सटीक है कि तकनीक भी कोई जादू की गोली नहीं है लेकिन यह पारदर्शिता, पहुँच तथा दक्षता प्रदान कर सकती है और परिवर्तनकारी हो सकती है। यह (तकनीक) नाव से पानी बाहर फेंकने वाले की बजाय छेद बंद करने वाला रणनीतिक उपकरण हो सकती है।[25]

भारत में लोक सेवाओं की दशा और दिशा के इस समग्र विवेचन का समाहार करते हुए कहें तो भारतीय लोक सेवा यात्रा के क्रम में आदर्श, आशा तथा अनाचार के पड़ावों से होकर गुजरती रही है। किसी समय में इस्पाती ढाँचा मानी जाने वाली भारतीय लोक सेवा आज घुन लगी लकड़ी की तरह हो चुकी है तथापि इसके लिए सिर्फ लोक सेवा को ही उत्तरदायी ठहराना इसके साथ ज्यादती होगी। वास्तव में कोई भी संरचना या व्यवस्था अपने परिवेश के प्रभाव से अछूती नहीं रह सकती। लोक सेवा पर भी सामाजिक राजनैतिक परिवेश का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जैसा कि सच्चिदानंद सिन्हा का विचार है ''भारत के आधुनिकतावादी, जीवन का प्रधान लक्ष्य भौतिक या आर्थिक उपलब्धि मानते हैं लेकिन इसके लिए खुली प्रतियोगिता की जगह जो आधुनिकता की मांग है पारिवारिक या जातिय खोल के भीतर से ही उपलब्धि के साथ संघर्ष में जुटना चाहते हैं। यह दोष दिनोंदिन और भी सघन होता गया है। ..... हमारे यहाँ भ्रष्टाचार ..... उस सामाजिक मूल्यहीनता का परिणाम है जहाँ पारंपरिक मूल्यों का लोप हो चुका है पर पारंपरिक वफादारियां अपनी जगह पर जमी हुई हैं।[26] जब तक हम इस बुनियादी बात पर ध्यान नहीं देंगें व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन संभव नहीं है। हमारे देश में प्रशासनिक भ्रष्टाचार वस्तुत: राजनीतिक शह पाकर ही इस हद तक सुदृढ़ हुआ है ऐसे में राजनीतिक सुधार के बगैर प्रशासनिक सुधार की कोई भी योजना अपेक्षित परिणाम नहीं दे सकती। इतिहास साक्षी है कि 18वीं सदी और 19वीं सदी के प्रथमार्द्ध में ब्रिटेन की प्रशासनिक व्यवस्था भ्रष्टाचार को लेकर कुख्यात हो चुकी थी लेकिन विलियम एबर्ट ग्लैडस्टोन ने 1850 में वित्त मंत्री के रूप में और तत्पश्चात् 1868 से चार बार बतौर प्रधानमंत्री कार्य करते हुए चुनाव सुधार और प्रशासनिक नियमों तथा विनियमों में व्याप्त कमियों को दूर करने हेतु अपेक्षित इच्छाशक्ति का प्रदर्शन किया जिसके परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार में इस हद तक कमी आयी कि ब्रिटेन को दुनिया के शीर्ष 15 न्यूनतम भ्रष्ट देशों की सूची में शामिल होने का सम्मान प्राप्त हुआ।[27] भारत की शासन व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है विशेषकर इस बात को ध्यान में रखते हुए कि इसकी जड़ें ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन तंत्र में निहित है और कमोबेश हमारी संपूर्ण प्रशासनिक व राजनीतिक व्यवस्था ब्रिटिश व्यवस्था के प्रतिरूप हैं इस बात में कोई संदेह नहीं कि राजनीतिक इच्छाशक्ति से संपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था में काफी हद तक एक सकारात्मक परिवर्तन आ सकता है। हालांकि इसके साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि केवल कानून बनाना और संगठनात्मक परिवर्तन करना पर्याप्त नहीं है। सच तो यह है कि नैतिकता बाहरी तत्व है जो समाज के लोगों के व्यवहार पर निर्भर करती है अत: जब तक समाज के लोग स्वयं मूल्यों का निर्माण करते हुए इसका पालन नहीं करते संपूर्ण सुधार संभव नहीं है।

संदर्भ सूची

1. सुभाष कश्यप, विश्व प्रकाश गुप्ता. राजनीति कोष पृष्ठ 67
2. श्री राम माहेश्वरी. भारतीय प्रशासन पृष्ठ 253
3. E. N. Gladden. 'The Civil Service:Its Problems and Future',p.35
4. बी.एल. फाड़िया. लोक प्रशासन पृष्ठ 438

5. Dr. T. Bhattacharya. 'The Indian Penal Code',p.12
6. द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग 10वीं रिपोर्ट पृष्ठ 314
7. Delegated Legislation-PRS. www.prsindia.org/.../1370586704-Parliamentary%20 Security%20of%2
8. Noor Mohammed Bilal. 'Dynamism of Judicial Control and Administrative Adjudication',p.24
9. डी.डी. बसु. भारत का संविधान एक परिचय पृष्ठ 312
10. Kuldeep Mathur,James Warner Bjorkman. 'Policy Making in India: Who Speaks? Who Listens?'p.76
11. Kuldeep Mathur. 'From Government to Governance',p.47
12. Jagdish N. Bhagwati. 'Getting Corruption Right'.www.project-syndicate.org/commentry/getting-corruption-right.
13. Kuldeep Mathur. 'From Government to Governance'.p.47
14. Kiran Karnik. 'Corruption:Try technology as it can be transformational'. The Economic Times(6 November 2012)
15. N. Changkakoti. 'Corruption and its eradication in India'. The Clarion:Multidisciplinary International Journal, Volumn-1. Number-1, February(2012).pp.183-85
16. सच्चिदानंद सिंहा. लोकतंत्र की चुनौतियां पृष्ठ 113–123
17. 45th Transfer? IAS officer Ashok Khemka,who took on Robert Vadra,asked to shift again. www.ndtv.com/.../45th transfer-ias-officer-ashok-khemka-who-took-on-
18. सुरेन्द्र मोहन. लोक संस्थाओं का क्षय (भारत का राजनीतिक संकट, संपादक राजकिशोर)पृष्ठ 70
19. 'India's Citizen's Charter:A Decade of Experience'. Public Affairs Centre,Bangalore
20. 'Key issues and constraints in implementing the RTI Act'. rti.gov.in/rticorner/studybypwc/key-issues.pdf.
21. for detailed analysis see- RTI activist:sitting ducks of India. Published by: Asian Centre for Human Rights(2011)
22. Priti Patnaik. 'Social audits in India'.the guardian (13 january 2012)
23. nrega.nic.in/circular/Social-Audit.htm.
24. Beina Xu. 'Governance in India:Corruption'. www.cfr.org/corruption-and..../governance-india-corruption/p31823
25. Kiran Karnik. 'Corruption:Try technology as it can be transformational'. The Economic Times(6 November 2012)
26. सच्चिदानंद सिंहा. लोकतंत्र की चुनौतियां पृष्ठ 113–123
27. N. Changkakoti. 'Corruption and its eradication in India'. The Clarion: Multidisciplinary International Journal, Volumn-1, Number-1. February(2012).pp.183-85

डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक विचार

डॉ. आनन्द वर्द्धन

एम.ए., पटना विश्वविद्यालय, पटना

महाराष्ट्र के रत्नगिरि जिले के एक गांव अम्बावडे में 14 अप्रैल 1891 को एक ऐसे नक्षत्र का उदय हुआ जिसके असाधारण रूप को देखकर अम्बावडे की अछूत बस्ती में हर्षोल्लास छा गया। महार जाति के रामजी मालोजी सकपाल एवं भीमाबाई के घर जन्मे बड़ी-बड़ी गोल और चमकदार आंखें, भरापूरा शरीर, रंग गोरा, चौड़ा माथा, सुतवां नाक एवं पतले रसीले होंठ को देखकर शायद ही कोई कह सकता कि वह जाति से महार (अछूत जाति) है। एक ऐसी जाति जिसका स्पर्श हो जाने मात्र से तत्काल स्नान करना पड़ता था। कहने को तो भीमराव कुल चौदह भाई-बहन हुए, परंतु दो बहन एवं तीन भाई को छोड़कर अन्य सभी काल कवलित हो गए। दिखने में मां के अनुरूप होने के कारण बालक का नाम पहले भीम रखा था तथा बाद में पारिवारिक परंपरा के अनुसार उसका नाम भीमराव रामजी सकपाल अम्बेडकर रखा गया। मेधावी भीम समाज में व्याप्त बुराईयों के कटु अनुभवों से गुजरते हुए जब अपने तरूणावस्था में पहुंचे तो कौन जानता था कि वह आगे चलकर भारत-रत्न, संविधान निर्माता एवं इतिहास पुरुष बनेगा।

सन् 1916 में अमेरिका से एम॰ ए॰ की डिग्री लेने के बाद उनके जीवन के पहले लेख ''कास्ट्स इन इंडिया'' ने समस्त बुद्धिजीवियों के अंतर्रात्मा को हिलाकर रख दिया।[1] कोलंबिया विश्वविद्यालय से पी॰ एच॰ डी॰ की डिग्री प्राप्त करने के साथ ही वह अछूत बालक सभी की आंखों का तारा बन गया। इसके बाद भारत आकर अम्बेडकर ने एक ऐसे काम को हाथ में लिया जो सदियों से उपेक्षित था। दलितोद्धार को ही अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करने के बाद शीघ्र ही वे उनकी दशा एवं दिशा बदलने के लिए कृत संकल्पित हो गए। भारत रत्न डॉ॰ अम्बेडकर हिन्दु समाज के सभी अन्यायपूर्ण और दमनकारी स्वरूपों के विरुद्ध विद्रोह के ना केवल प्रतीक बने बल्कि नवचेतना एवं बहुजन जागृति के एक महान मसीहा के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किया।[2] उनका मानना था कि यदि भारत को स्वतंत्र कराना है तो सबसे पहले हिन्दू समाज में आमूलचूल परिवर्तन होना चाहिए। क्योंकि बिना सामाजिक क्षमता और मातृत्व के स्वतंत्रता एक ढकोसला मात्र है। यही कारण है कि हिन्दू समाज में व्याप्त बुराईयों की जमकर आलोचना करते रहे।

डॉ॰ अम्बेडकर का मानना था कि हिन्दू समाज के संगठन का मूल आधार वर्ण-व्यवस्था था जो कि पूर्णतः अव्यवहारिक एवं कलुषित था। वर्ण-व्यवस्था का यह वास्तविक स्रोत ऋग्वेद का पुरुष सूक्त है। जिसमें वर्ण को चतुष्विध स्वीकार किया गया है। यथा-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि-''चातुर्वर्णं मया सृष्टाः गुण-कर्म विभागशाः''[3] हिन्दू समाज की एक अन्य मान्यता के अनुसार इन चारों वर्णों की सृष्टि ब्रह्मा ने की है जिनका रंग क्रमशः श्वेत, लाल, पीला एवं काला है। यथा-

ब्रह्मणानां तु सितो क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पतिको वर्ण शूद्रणामस्तिस्तथा ।।[4]

डॉ॰ अम्बेडकर का मानना है कि रंग के आधार पर मनुष्यों का वर्गों में विभाजन तथा बाद में शूद्रों को घृणा की दृष्टि से देखना मानवता को कलांकित करने जैसा है। एक मानव का दूसरे मानव के प्रति ऐसा घृणित व्यवहार कहीं से भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती है। इतना ही नहीं हिन्दू विद्वान इस व्यवस्था को श्रम-विभाजन का भी आधार मानते हैं। इसके आधार पर तो शूद्रों की स्थिति और भी दयनीय हो गई। अधिकार एवं कर्तव्य की दृष्टि से उसे अत्यंत ही पंगु बना दिया क्योंकि उसे न तो वेदाध्ययन का अधिकार था और न ही यज्ञ करने का ना तो वह सैनिक बन सकता था और ना ही व्यापार कर सकता था। गीता में उसके विहित एकमात्र कर्म का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि–

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रुषामनसूयया ।।[5]

हिन्दुओं की गीता पर गहरी आस्था है जिस कारण वे वर्ण-व्यवस्था को भी सत्य और पवित्र मानते हैं इसे वे आर्थिक सुदृढ़ीकरण का भी आधार मानते हैं। लेकिन अम्बेडकर का मानना है कि वर्ण-व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें ऊंच-नीच, जात-पात आदि पारिवारिक संपत्ति के रूप में समझी जाती है।[6]

डॉ॰ अम्बेडकर जातिवाद के कट्टर विरोधी थे। इतना ही नहीं वे सदैव इस समस्या का समाधान चाहते थे। इनका मानना था कि हिन्दू समाज के अंतर्गत जाति प्रणाली में ऐसी व्यवस्था की गई थी जाति के भीतर जाने की बंदिश के साथ-ही-साथ जाति के बाहर जाने की भी बंदिश है। जाति का तर्कशास्त्र ही इतना कठोर था कि इस क्रूर नियम के कारण असंख्य जातियों का उदय हुआ।[7] बाबा साहेब का मानना था कि इसी कारण हिन्दू समाज में वह एकता नहीं आ सकती, जिसकी आज हमें आवश्यकता है। इसके लिए वे अंतरजातीय विवाह के पूर्ण पक्षधर थे। हालांकि हिन्दू समाज में अनेक ऐसी जातियाँ हैं जो आपस में खान-पान करती है, परंतु उनका जातिवाद संबंधी विचार फिर भी ज्यों-का-त्यों है। इन सबके पीछे उनके तथा कथित धर्म की भूमिका अधिक है। अम्बेडकर का मानना है कि जाति व्यवस्था जो घृणा असमानता एवं वैमनश्य पर आधारित है, तभी नष्ट हो सकती है, जब हम गीता जैसी धर्मशास्त्रों के प्रति दैवीय एवं पवित्र भावनाओं को समाप्त कर दें।

जाति प्रथा के ही कारण अस्पृश्यता जैसे सामाजिक कोढ़ को हिन्दू समाज में स्थापित माना जाता है। उनका मानना था कि यह एक ऐसा कलंक है जिसे विधिवत एवं सांवैधानिक रूप से तो मिटा दिया गया है, किंतु व्यवहार में वह आज भी अनेक रूपों में प्रदर्शित होता है। वस्तुतः अस्पृश्यता की उत्पत्ति के अनेक कारण हैं, किंतु स्मृति काल मे अत्यंत निकृष्ट काम करने वालों को अस्पृश्य कहा गया जिनको देखना, छूना तथा जिनकी छाया भी स्वर्ण हिन्दुओं को अपवित्र कर देता था। अम्बेडकर का मानना है कि यह हमारे समाज से पूर्णतः तभी विलीन हो सकता है, जब संपूर्ण हिन्दू सामाजिक व्यवस्था विशेष रूप से जाति प्रथा विलीन हो जाए। यदि जाति प्रथा विलीन नहीं हो सकती, तब यह आशा ही करना व्यर्थ है कि अस्पृष्यता जैसी कोढ़ समाज से विलीन हो पाएगी।

इन सबों के मूल में ''संस्कार'' की बहुत अधिक भूमिका है। विभिन्न वर्णों के संस्कार भी भिन्न-भिन्न हुआ करता था। हिन्दुओं में शूद्र, अछूतों की उन्नति एवं अवनति को उनके लिए कुछ

संस्कारों के निषेध के साथ जोड़कर देखा जाता रहा है। इन सबों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार 'उपनयन संस्कार' था। डॉ॰ अम्बेडकर का मानना था कि प्राचीन काल में इन संस्कारों का बहुत अधिक महत्व था। व्यक्तियों की प्रतिष्ठा एवं अधिकार इन्हीं संस्कारों पर आधारित रहते थे। ऐसी मान्यता थी कि उपनयन संस्कार के द्वारा बच्चे का दूसरा जन्म (द्विज) होता था। इसमें बच्चों को पुरोहितों द्वारा यज्ञोपवीत (जनेउ) धारण करवाया जाता था।

तत्पश्चात उन्हें वेदाध्ययन के लिए गुरु के आश्रमों में छोड़ दिया जाता था। कहने का अर्थ है कि इसके साथ ही उनका शिक्षा-दीक्षा प्रारंभ हो जाता था। चूंकि शूद्रों के लिए इस संस्कार को निषिद्ध करा दिया गया जिसके कारण शूद्र स्त्री-पुरुष सामाजिक विकास के क्रम में निरंतर पिछड़ते चले गए। परिणामस्वरूप शूद्र निरक्षर, नीच, अधम, कमजोर तथा अछूत बन गए। क्योंकि जो चीजें मानव जीवन को संबल एवं समृद्ध बनाती है, उन्हें उनसे वंचित कर दिया गया। अछूतों को केवल 'विवाह संस्कार' की ही छूट थी। फलतः उनकी संतानों की वृद्धि तो हुई परंतु वे अभिशप्त जीवन जीने को विवश हो गए। जिसका दुष्परिणाम हमें भारतीय समाज में सर्वत्र दिखाई पड़ता है। इतना ही नहीं सभी आश्रम व्यवस्था यथा-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आदि भी द्विज जन्मे लोगों तक ही सीमित था।

डॉ॰ अम्बेडकर का मानना था कि जनहित में जो भी संस्कार या सामाजिक रीति-रिवाज है, उन्हें सबके हित में मान्यता दी जाये तथा सांवैधानिक दृष्टि से उनकी समीक्षा भी की जाये। साथ-ही-साथ जो भी संस्कार या वर्ण-व्यवस्था विधि-विरोधी हैं, उन्हें तिलांजलि दे दी जाए ताकि भारतीय समाज को उन विधियों, नियमों एवं मूल्यों के आधार पर पुनः व्यवस्थित किया जा सके जो प्रत्येक मानव की स्वतंत्रता, समानता, गरिमा एवं प्रतिष्ठा को मान्यता देते हों।

प्राचीन भारत में नारियों की स्थिति भी संतोषजनक नहीं थी। अम्बेडकर जी का मानना है कि नारी वर्ग के सर्वाधिक प्रतिकूल स्थिति उस समय आई जब 'मनुस्मृति' को सामाजिक एवं विधिक मान्यता मिली। हालांकि जब बुद्ध ने नारियों को भिक्षुणी होने की सम्मति दी तो इससे नारी वर्ग को सामाजिक स्वतंत्रता मिली जिससे कि नारी में शिक्षा के प्रति जागरूकता बढ़ी। लेकिन मनु ने नारियों पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाकर उसे गुलामी की बेड़ियों में जकड़ दिया।[9] यही कारण है कि डॉ॰ अम्बेडकर ने मनु को न केवल नारी वर्ग के अवनति का साधन बतलाया अपितु उसे समस्त हिन्दू भारतीय समाज के पतन का कारण माना।[10]

मनुस्मृति ने नारी के सामाजिक स्थिति को प्राचीन-भारत में जितना पतनोन्मुख बनाया स्वतंत्र भारत में उन्होंने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को उतना ही उन्नतिशील एवं उत्थानोन्मुख बनाया। जैसा कि भारतीय संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धांतों और मौलिक अधिकारों के प्रावधानों में अंतर्निहित है। डॉ॰ अम्बेडकर ने हिन्दू कोड बिल के माध्यम से सदियों से पीड़ित महिलाओं को समान अधिकार तथा संरक्षण पर बल दिया ताकि उन्हें सम्पत्ति, विवाह-विच्छेद, उत्तराधिकार तथा गोद लेने के संबंध में समान अधिकार सुलभ हो जाये। वे परिवार नियोजन के कट्टर पक्षधर थे। इस प्रकार की वकालत एवं प्रचार करके उन्होंने समस्त नारी जाति की प्रगति एवं भलाई की आवाज बुलंद की थी जो आज भी सार्थक एवं प्रासंगिक हैं।[11]

संदर्भ सूची:

1. डॉ॰ गोल्डन वाइजर (अमेरिका) के नेतृत्व में आयोजित 'एन्थ्रोपोलॉजी' सेमिनार से उदृत
2. एनिहिलेशन ऑफ कॉस्ट–डॉ॰ बी॰ आर॰ अम्बेडकर-1936
3. श्रीमद्भागवद्गीता 4/13
4. त्रग्वेद- पुरुष सूक्त
5. मनुस्मृति 1.91
6. एनिहिलेशन ऑफ कास्ट–डॉ॰ अम्बेडकर
7. राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज पार्ट-1 पृ॰-19
8. संपूर्ण वांडन्मय–खण्ड-9 बाबा अम्बेडकर
9. राइज एण्ड फॉल ऑफ हिन्दू वीमेन
10. इण्डियन पॉलिसी भाग-2 पृ॰-16
11. राइज एण्ड फॉल ऑफ हिन्दू वीमेन पृ॰-95

कृषि उपज मड़ियों का परिचयात्मक अध्ययन (रायपुर संभाग के विशेष संदर्भ मे)

डॉ० गिरजा शंकर गुप्ता

सहा-प्राध्यापक, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर

शोध संक्षेपिका

भारत एक कृषि प्रधान देश है जहां के किसान आज भी निर्धन व अशिक्षित है तथा जिनके खेत छोटे एवं बिखरे है। इन कारणों से भारतीय कृषि समुन्नत कृषि विज्ञान से कोई लाभ नहीं उठा पाई है और अब भी अपनी प्राचीन प्रणाली पर आधारित है। वैसे हमारे कृषकों के खेती करने के तरीके प्राचीन काल के लिए सर्वथा उपयुक्त थे जिनका उल्लेख डॉ. वेरलकर ने भी किया है। पर आज के वैज्ञानिक युग में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। अमेरिका तथा इंग्लैण्ड जैसे विकसित देशों ने कृषि उत्पादन की समुन्नत प्रणाली को ही अपनाकर कृषि उत्पादन बढ़ा पाया है। यह ठीक है कि भारतीय कृषि प्रणाली में कोई परिवर्तन तुरन्त नहीं हो सकता और इसमें कुछ समय अवश्य लगेगा पर किसानों को समुन्नत प्रणाली के लाभों से अवगत कर धीरे-धीरे परिवर्तन लाना बहुत आवश्यक है। कृषि प्रधान राष्ट्र होने के कारण भारत की अर्थव्यवस्था पूर्ण रूपेण कृषि पर अवलक्षित है।

कुंजी शब्दः भारतीय कृषि समुन्नत, कृषि उत्पादन, कृषि का आविष्कार, कृषक व्यापारी एवं उपभोक्ता, कृषि विपणन बोर्ड, नियंत्रित मंडी, अनियमित गण्डी, नियमित मण्डी, विपणन तथा भण्डारन, बिचौलिये, कृषक, नीलामकर्ता, राजस्व निरीक्षक, अर्धविकसित राष्ट्रों अर्धव्यवस्था।

प्रस्तावना

कृषि में विपणन का विशेष महत्व है कहा गया है। कि एक अच्छा कृषक अपना एक नेत्र हल पर दूसरा बाजार अधिक पर रखता है। पर आज के संदर्भ में यह कहना उपयुक्त होगा कि अच्छा कृषक अपने दोनों हाथ हल पर तथा दोनों आँखें बाजार पर रखता है वह कौन सी फसल उपजावें इसके लिये वह बाजार की ओर देखता है। परन्तु भारतीय किसान अपने दोनों हाथों को हल पर रखकर अपनी आँखें बंद कर लेता है। यही कारण है कि उसकी आर्थिक स्थिति दिन व दिन गिरती जा रही है। बाजार एक व्यापक शब्द है जिसका अर्थ क्रेताओं की खोज करना एकत्रित करना या माँग एवं पूर्ति को एक दूसरे के अनुकूल करना इसमें वे सेवाएं और वस्तुएं भी सम्मिलित है, जिन्हें क्रेता या उपभोक्ता जिस मात्रा में जिस किस्म की जिस रूप में और जिस समय चाहता है. उपलब्ध होती है। और प्रकृति के बीच संघर्ष होता आया है, और उसी के परिणाम स्वरूप मानव सभ्यता का क्रामिक विकास हुआ है। गुफाओं में रहने वाला मानव सभ्यता की ओर बढ़ने का प्रयास प्रारम्भ से ही करता आ रहा है। अपनी आवश्यकता को पूरा करने में ही वह सर्वत्र व्यस्त रहता था। प्राचीन काल में मनुष्य शिकारी अवस्था में था और शिकार के द्वारा अपनी जीविका चलाता था। इस युग में मानव अपनी जीविका के लिये प्रकृति पर निर्भर था।

कृषि उपज मंडियो का इतिहास

कृषि का आविष्कार मानव इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना मानी जाती है, क्योंकि मनुष्य पूर्व में प्रकृति पर निर्भर था परन्तु सभ्यता के इस क्रम में वह प्रकृति का सहायक बना। पूर्व पाषाण युग

में मानव वन्य जीवन व्यतीत करता था इस समय उसकी आवश्यकताएं सीमित थी। उस समय के लोग जंगली जानवरों का शिकार कर जंगली फल तथा कन्दमूल खाकर अपना पेट भरते थे। इस समय मनुष्य प्रकृति पर निर्भर था, परन्तु प्रकृति का सहायक बनने के पश्चात् वह आहार संचयन अवस्था में न रहकर क्रमशः उत्पादन अवस्था में पहुंचने लगा इसके साथ ही उसने पशु-पालन भी अपना लिया। इस अवस्था में उसने एक निश्चित स्थान पर बसना प्रारम्भ कर दिया। अपने रहने के लिए घरों का निर्माण किया अनेक घरों का एक स्थल पर निर्माण हाने से गांव बना, यही गांव कालान्तर में नगर कहलाए। कृषि उपज मंडियों की स्थापना कई वर्षों तक कृषि उपजों के व्यापार एवं मूल्य निर्धारण की समस्या बनी रही. उचित व्यापार व्यवस्था न होने से कृषक अपने उत्पादनों को गांव में ही बेच दिया करते थे। शासन ने इस ओर ध्यान दिया और कृषि उपज मंडियों की स्थापना की इन मंडियों का नियमन सरकार द्वारा किया जाता है।

कृषि उपज मंडियों स्थापना

इन मंडियों की स्थापना कृषक व्यापारी एवं उपभोक्ताओं के हित में एक सराहनीय कदम था। इसके बाद सन् 1962 में मप्र शासन ने एक नया अधिनियम बनाया जो म.प्र. कृषि उपज मंडी अधिनियम 1962 कहलाया तथा शासन के राजपत्र के नाम 4 (ग) में दिनांक 13.12 को प्रकाशित हुआ और म. शासन के कृषि विभाग की विज्ञप्ति क्रमांक 7140-1-61 दिनांक 27.06 1062 द्वारा राजपत्र में प्रकाशित करके दिनांक हेतु अध्यादेश 1969 में जारी किया गया यह अध्यादेश म.प. शासन के राजपत्र असाधरण क्रमांक 8 दिनांक 20 जनवरी 1960 को प्रकाशित होकर म.प्र. शासन कृषि विभाग के अधिसूचना 714-11208-1 के दिनांक 20 जनवरी 1969 के द्वारा 21 जनवरी 1950 से प्रभावशील किया गया। इसके पश्चात् म.प्र. राज्य की कृषि उपज के क्रम विक्रय का अधिक अच्छा विनिमय करने के लिए तथा कृषि उपज संबंधी मंडियों की स्थापना एवं उनके उचित प्रशासन के लिये म.प्र. कृषि उपज मंडी अधिनियम 1972 दिनांक 18 अप्रैल 1973 को राष्ट्रपति की अनुमति के प्राप्त करने के पश्चात् प्रकाशन किया गया। इसके पश्चात् सन् 1975 में मध कृषि उपज मंडी अधिनियम में संशोधन किया गया जिसे 25 अगस्त 1975 में राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हुई।

म.प्र. शासन की योजना के अंतर्गत म.प्र. राज्य में कृषि विपणन बोर्ड की स्थापना की गई जो स्वयं के अधिकार एवं कर्त्तव्य के माध्यम से मंडी समितियों का मार्ग निर्देशन करने के साथ ही उन्हें सक्रिय सहयोग देने में सक्षम होता है। म.प्र. शासन द्वारा सन् 1977 में म.प्र. मंडी समितियों का विस्तार कार्यक्रम बनाया गया था। इस कार्यक्रम के अनुसार प्रत्येक विकास खण्ड में कम से कम एक कृषि उपज मंडी की स्थापना का उद्देश्य तथा अपनी उपज के विक्रय के लिये किसानों को 5 मील से अधिक दूरी तय न करनी पड़े का लक्ष्य निर्धारित था। सन् 1975 के इस अधिनियम के पश्चात् सन् 1979 में पुनः इस अधि नियम में संशोधन किया गया यह 21 जनवरी 1979 से प्रभावशील माना गया। वर्तमान में मंडी समितियाँ इसी अधिनियम के अंतर्गत कार्य कर रही है। नव गठित छत्तीसगढ़ राज्य में 1 नवम्बर 2000 से उक्त अधिनियम के अंतर्गत ही मंडी बोर्ड का कार्य संचालित किया जा रहा है। छत्तीसगढ़ राज्य में 16 जिले हैं, जिनमें 70 नियमित कृषि उपज मंडियाँ कार्यरत है। रायपुर जिले में 11 नियमित कृषि उपज मंडियों तथा दुर्ग जिले में 3 मंडियों कार्यरत है।

कृषि उपज मंडियों का वर्गीकरण

कृषि उपज मंडी एक नियंत्रित मंडी कहलाती है। मंडी की कार्यविधि तथा प्रणाली पर राज्य सरकार का नियंत्रण होता है। नियंत्रण के लिये अलग से विधान बनाए जाते हैं एवं इसकी प्रत्यक्ष कार्य विधि को लागू करने के लिये प्रशिक्षित कर्मचारी एवं प्रबंध में कृषक की भागीदारी होती है। मण्ड़ियों

से अर्थ उन स्थानों से है जहां थोक मात्रा कृषि वस्तुओं का क्रम एवं विक्रय होता है ये मंडियों शहरी क्षेत्रों या कस्बों में होती है इस समय यह मण्डियों दो प्रकार की है

1. अनियमित गण्डी
2. नियमित मण्डी

अनियमित मंडियों के बिक्री के नियम निश्चित नहीं होते हैं तथा बिक्री, आढतियाँ, दलालों आदि के माध्यम से तम होती है।

नियमित मंडियों की स्थापना राज्य सरकार द्वारा नियमानुसार की जाती है तथा इन मंडियों में कृषक अपनी उपज को उचित मूल्य पर विक्रय करता है। बिक्री सामान्यत: नीलामी के आधार पर होती है। सामान्य बोलचाल की भाषा में कृषि उपज मंडी का अर्थ कृषि कार्यों से प्राप्त उपज का किसी निर्दिष्ट स्थान पर एकत्रीकरण, विपणन तथा भण्डारन करने वाले स्थान से है जहां पर आयी उपज का शासकीय नियमों के अधीन उत्पादक (कृषक) एवं क्रेता स्वतंत्र क्रय-विक्रय करते हैं।

रायपुर संभाग की कृषि उपज मंडियों की स्थापना

छत्तीसगढ़ की राजधानी रायपुर मुख्य रूप से धान की उपज के लिये प्रसिद्ध है। कुल कृषि उत्पादन का 32 प्रतिशत खाद्यान्न रायपुर जिले में होता है, अर्थात् क्षेत्र की आय का बहुत बड़ा भाग कृषि पर ही निर्भर करती है। यहां की अधिकांश जनसंख्या का मुख्य व्यवसाय कृषि ही हैं। छत्तीसगढ़ में उपयुक्त कृषि बाजारों की कमी रही है, जिसके परिणामस्वरूप कृषकों को अपनी उपज को बेचने तथा उसका सही मूल्य प्राप्त करने के लिए व्यापारियों एवं बिचौलियों के शरण में जाना पड़ता था। व्यापारी तथा बिचौलिये कृषकों का शोषण किया करते थे। उपयुक्त बाजारों के अभाव में कृषक अपनी उपज को गांवों में ही बेचने पर विवश थे परिणामस्वरूप उनको उपज का सही मूल्य नहीं मिल पाता था।

कृषि उपज मंडी "पण्डरी तराई रायपुर की स्थापना के पूर्व पुरानी मंडी को गंज बाजार के नाम से जाना जाता था। जहां बहुत से मंडियों का कारोबार एक साथ होता है या कृषक अपने उपजों को भरकर एक ऐसी जगह पर उपस्थित होते है जहां विक्रेता, क्रेता और नीलामकर्ता द्वारा क्रय-विक्रय कराया जाता है। कृषकों के साथ व्यापारी और उपभोक्ताओं की समस्याऐं आकर इसमें जुड़ गई है। एक ओर तो वहां मंडी के कृषकों, व्यापारियों एवं उपभोक्ताओं की समस्याएँ पूर्ववत् रही वही दूसरी ओर मंडी समिति की कुछ समस्याऐं इसमें आकर जुड़ गई।

पुरानी कृषि उपज मंडी की स्थापना 28 अगस्त सन् 1964 तथा कार्य प्रारम्भ 5 नवंबर 1968 को हुआ। कृषि उपज मंडी की स्थापना म.प्र. कृषि विभाग द्वारा की गयी। स्थापना के पूर्व इसका नियंत्रण स्थानीय नगर पालिक निगम द्वारा होता था। म.प्र. कृषि विभाग, भोपाल ने अपनी अधिसूचना क्रमांक 775-8503-15-1 दिनांक 28 अक्टूबर 1964 के अधीन नियमित गंडी की स्थापना की घोषणा की गई। कृषि उपज मंडी के लिए रायपुर नगर में 26-43 एकड़ भूमि में मुख्य मंत्री प्रगंण की घोषणा की गई। प्रारंभ में मंडी समिति के अध्यक्ष के रूप में श्री मुन्नालाल शुक्ल ने कार्य किया।

नई मंडी का निर्माण कार्य 1974 से प्रारंभ होकर सन् 1979 में समाप्त हुआ कार्य प्रारंभ 3 दिसम्बर 1979 से हुआ जिसमें किसानों की सुविधाओं के लिए विश्राम भवन, भोजनालय, शौचालय, मवेशी कोठे, बैंक आदि की सुविधा है। इस नई मंडी का क्षेत्र म.प्र. शासन कृषि विभाग के अधिसूचना क्रमांक 2337/3971/14-3 भोपाल दिनांक 15 अगस्त 1975 के अनुसार रायपुर जिले के राजस्व निरीक्षक सर्किल रायपुर 1.2 व धरसींवा 1.2 में स्थित 182 ग्राम समाविष्ट है। रायपुर जिले में रायपुर कृषि उपज मंडी 'ए' श्रेणी की मंडी है।

दुर्ग कृषि उपज मंडी की स्थापना म.प्र. कृषि उपज विपणन व्यवस्था के स्थापना के पूर्व प्रारंभ हो चुका था। इसका संचालन का कार्य दुर्ग नगर पालिका परिषद द्वारा किया जा रहा था कृषि विपणन व्यवस्था का संचालित करने के लिए म.प्र. कृषि उपज मंडी अधिनियम 1972 क्रमांक 24 सन् 1973 पारित किया गया। दुर्ग कृषि उपज मंडी समिति को 1973 में हैण्ड ओवर कर दिया गया तथा मंडी के अध्यक्ष पद पर श्री एम.पी. सिंह को पदस्थ किया गया। मंडी प्रांगण में चारों ओर कच्ची सड़कों एवं वायर फेसिंग का निर्माण किया गया है। मंडी प्रांगण में पशुओं की सुविधा के लिए शेड व पानी की वर्तमान में मंडी समिति को सन् क्षेत्रफल की भूमि प्रदान की गई है। व्यवस्था की गई है।

निष्कर्ष

कृषि व्यवसाय का आर्थिक विकास वह के वातावरण पर निर्भर करता है, अर्थात् वहां कि जनता में विकास की इच्छा के साथ ही वहां कि सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था विकास के पक्ष में होनी चाहिए। इसके साथ ही आर्थिक विकास को एक और बात प्रभावित करती है, और यह है उस देश के कृषि विकास एवं कृषि उत्पाद के विपणन की व्यवस्था अविकसित एवं अर्ध विकसित राष्ट्र में आजीविका का ढांचा स्थायी रूप से असंतुलित रहता है। कृषि क्षेत्र स्वयं भी एक पिछड़ा क्षेत्र होता है अविकसित एवं अर्धविकसित राष्ट्रों अर्धव्यवस्था कृषि पर ही निर्भर होती है। कृषि में होने वाली प्राकृतिक विपदाओं के कारण कृषि आय अनिश्चित सी रहती है।

देश के विकास के केन्द्र बिन्दु उस क्षेत्र का कृषि क्षेत्र होता है। क्षेत्र के विकसित होने के साथ सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के विकास को गति मिलती है, किन्तु कृषि के क्षेत्र का विकास कृषि उत्पादन के विपणन व्यवस्था पर आश्रित होती है विपणन व्यवस्था जितनी सुद्ध एवं सुविधाजनक होगी, उतना ही कृषि क्षेत्र का विकास होगा, उत्पादन में वृद्धि होगी और कृषकों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध होगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गोविल, ऋषि कुमार भारतीय कृषि अर्थशास्त्र मित्तल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली 1970
2. द्ववेदी राधेश्याम कृषि उपज मंडी अधिनियम एवं नियम सुविधा लॉ हाउस, भोपाल 1999
3. जिन पारसनाथ "मध्यप्रदेश कृषि उपज मंडी विधि संहिता' इंडिया पब्लिशिंग कम्पनी इंदौर 1999
4. थाले राव एम.एम. भारतीय कृषि अर्थशास्त्र विकास पब्लिशिंग हाउस, प्राइवेट लिमिटेड रामनगर, नई दिल्ली 1999
5. जिलों की कृषि उपज मंडी समितियों के वार्षिक प्रशासनिक प्रतिवेदन।

Principles of Child Development

Dr. Archana Kumari

Lecturer, Government Girls Inter College, Sitarganj, Udham Singh Nagar, Uttarakhand

The student of child development should have a foundation in the principles of human development. These principles explain the basic factors which govern all growth and development. The individual is a product of hereditary, environmental, and self factors.

Hereditary factors are innate characteristics with which the child is equipped at birth. Prime factors in growth, heredity forces control the basic nature of the organism and the rate at which the organism covers the life cycle; they are the basic assets and liabilities, structural and functional, which allow the organism to use both nature and nurture in development. While hereditary factors generally come into play prior to birth, they do influence growth throughout life, just as some environmental forces are operative prior to birth.

The environment is a factor which must be continually studied in connection with hereditary forces. There is an increasing recognition that genes must function within a specific environment. Environmental factors we would consider include the intrauterine environment the family atmosphere, methods of child training, the family constellation, the total social community and the socioeconomic factors.

Self factors include the child's feelings and conceptions about himself, other persons, society, and his universe of experience, including his convictions, values, goals, and attitudes. The meaning the child inserts into his experiences, his individuality, and the manner in which the child characteristically perceives his experiences are included in the definition of self.

Heredity

Through heredity the child acquires from his parents potentials for development which are inherent in the germ plasm and associated cell structures. The basic agents of development are genes, frequently referred to as determiners of the organism.

Genes are tiny particles, roughly thirty thousand in number, which make up the forty-six chromosomes in human beings. Through a special process of cell division, egg and sperm cells lose half their chromosomes. When the sperm unites with the egg, two halves are joined, providing the new cell with the normal number of chromosomes.

The new individual's life begins, then, at conception, when the sperm penetrates the wall of the ovum releasing twenty-three chromosomes. At almost

the identical time the inner core of the ovum breaks to release twenty-three chromosomes of its own. Knowledge of this process enables the student of child development to understand how the chromosomes serve as carriers of the child's heredity.

The immense variety inherent in each individual's genes and the significance of dominant and recessive factors in the study of genes do not concern us here. We need only know that it is the interaction among these genes which predisposes the growth of all the physical structures of the body. What effect genes have on the development of specific nonphysical human traits is not known.

Frequently, individuals are concerned about the influence of heredity on specific traits and ask,

> *How tall might our children be? Will they tend to be overweight or thin, well-coordinated or clumsy? How about special talents? Will they inherit mother's talent for music, father's specific skill in sports? Which of these things will develop in a specific offspring?*

Each of these factors is dependent upon both hereditary and environmental forces. Certainly, environmental forces can modify or enhance predispositions present in the genes. Even some inherited structural defects can be overcome, as with the use of eyeglasses.

Intelligence is often of much concern to parents. Is intelligence inherited? If we mean only the potential for intelligence present in the genes, then we may speak of intelligence as inherited. If we go one step farther, to define intelligence in terms of its functions or the way in which it is demonstrated, then the proportional influence of heredity drops. Potentialities are inherited. Their optimum development is highly dependent upon the amount of nurture the environment provides and the way in which the individual chooses to utilise this nurture.

Acquired traits are not inherited, nor are character inadequacies, nor the complex behavioural patterns involved in certain types of skills. Certainly the value system of an individual is not inherent. Concepts and assumptions about life are not inherited.

Considerable variance is possible in the development of any individual. In any single mating the possible combinations of chromosomes between the male and the female are statistically enormous; the possibility of any one such combination being repeated more than once has been estimated at about one in three hundred thousand billion. It is apparent that the different combinations possible from roughly thirty thousand genes in the system can assume a figure beyond our capacity to predict or comprehend. When one expands the concept to include all the physiological and chemical factors present in the environment as modifying forces, then the differences possible in human development become, for practical purposes, infinite.

1. Sometimes people ask, why are there such great differences in the physical characteristics of children from the same parents? How would you explain these differences?
2. Peter, age thirteen, is an excellent student, tall, with red hair and blue eyes, overweight, argumentative like his father, poorly coordinated in baseball and basketball, but above average in tennis and golf. Socially, he plays with one child but prefers to be alone. How would you explain the above traits in terms of the relative influence of hereditary, environmental, and self factors?
3. If you are observing or studying a child, list some of his traits and discuss them in terms of the hereditary, environmental, and self factors.

Maturation

Closely related to the hereditary factor in our consideration of development is maturation, which is the regulatory mechanism primarily dependent upon physical growth in contrast to experience or training. Maturation directs the biological development of the bodily machinery. It accounts for changes that take place in the absence of specific practice. Basic research in maturation studies points to the fact that behaviour patterns of the infant and child are controlled by developmental levels in neuromuscular maturation, and it is futile to try to train a child in some activities before the neural mechanism is ready. The patterns of all behaviours influenced by maturation tend to show evidence of spurts, plateaus, and varying fluctuations. Thus, we can see that maturation and learning are different facets of a fundamental process of growth. In any type of educational planning it is well to look for the cues or signals which reflect a maturity of the neural mechanisms. The general principle of maturation has certain educational implications. The individual's ability to profit from his experiences is closely related to the level of development he has attained. Practice may accelerate the attainment of a skill when it is introduced at a time the child is ready for it. Imposed before readiness, however, practice may inhibit the individual's potential and carry concomitant discouragement factors which influence his future performance.

Premature practice, it seems evident, is educationally unsound. There are many implications as to its influence on a child's interest, cooperation, and formation of negative attitudes. On the other hand, optimal readiness is a relative factor, and the professional educator must he alert to the possibility that waiting too long may be as harmful as premature forcing or pressuring. Readiness and maturation are concepts which must be applied on an individual basis. At present some children are taught to read in prekindergarten and kindergarten while other children do not begin the reading process until second grade. Relate these varying practices to the concepts of maturation and readiness. Is readiness a concept which should he considered only at the beginning of school or at the onset of a specific developmental cycle? How are the readiness and maturation factors influential throughout all school experiences?

References

- Angle, Stephen C.: *Human Rights and Chinese Thought: A Cross-Cultural Inquiry,* New York: Cambridge University Press, 2002.
- Baehr, Peter R.: *Human Rights: Chinese and Dutch Perspectives,* The Hague: Kluwer Law International, 1996.
- Bandura, A.: *Socialisation theory and research.* Chicago: Rand McNally, 1969.
- Cassese, Antonio: *Human Rights in a Changing World*. Philadelphia: Temple University Press, 1991.
- Cooley, C.H.: *Human nature and the social order.* New York: Charles Scribner's Sons, 1902.
- Davis, Michael C.: *Chinese Values and Human Rights,* Hong Kong: Oxford University Press, 1995.
- Forsythe, Frederick P.: *Encyclopedia of Human Rights,* Oxford University Press, New York, 2009.
- Hannum, Hurst: *Autonomy, Sovereignty, and Self - Determination: The Accommodation of Conflicting Rights*. Philadelphia: University of Pennsylvania Press, 1990.

Home and Community Influences in Social Development

Deepa Kumari

Lecturer, Department of Home Science,
Priya Rani Degree College, Bairginiya, Sitamarhi

Community, home, school, peers, and media exert a greater or lesser influence on children's learning, depending on the age of the children concerned. Many theorists have described the stages in children's development from dependency to independence and have theorized how children learn. In practice, parents, teachers, and community people rarely subscribe to one particular theory, but the decisions they make about children's learning will reflect a stronger belief in one viewpoint. As you develop strategies to promote partnerships for children's education, it is helpful to keep in mind that the perspective others may have on development may differ from your own.

The Early Years-Strong Home Influence

Early researchers such as Maslow (1970), Erikson (1963), and Piaget (1967) all emphasize the strong need for attachment and environmental support of infants and toddlers. Developing children require a physically and emotionally supportive environment in which their basic needs can be met. Infants must first develop trust in others so that they can explore their surroundings. According to Piaget, it is this exploration that enables them to construct knowledge about themselves and their world (Piaget, 1967). Neuroscientists have discovered links between brain structure and brain activity, and brain research substantiates the notion that a child's knowledge develops because of an interactive process, beginning even as the brain develops before birth. Heredity may determine the framework of a developing child's brain, but researchers point out the many ways in which genes, environment, and infant responses interact to develop the connections between the brain cells that account for learning. Because of this brain–environment interactive development, we can see that myriad events will affect growth, some positively and some negatively.

Type of housing, presence of caregivers, and lifestyles associated with different homes influence children's lives in profound and dramatic ways. Some environments are extremely supportive and nurturing, whereas others are dominating, negligent, and even dysfunctional.

For example, affectionate interactions, consistent practices, organized schedules, and high-quality nourishment bring support and security to young children. Such nurturing environments have secure caregivers who respond to their children by touching, cuddling, talking to, and reading with them. Most

authorities agree that emotional support and interactions with the child provide building blocks for intellectual competence and language comprehension.

On the other hand, the trials of homelessness, highly mobile families, absentee parents, and poverty often mean that parents are unable to provide positive and secure environments. The lack of a responsive environment, which stems from the parents' own life experience, will affect a child's intellectual, social, and emotional competence. The young brain is quite resilient, however, and later stimulation or strong emotional bonds can help many children overcome some of the negative results of early deprivation.

Regardless of family configuration, American society expects all families to provide economic and emotional support for infants and toddlers. With more single-parent and dual-income parents, and fewer extended family members available to support them, families face many challenges in providing optimal care for their children.

Preschool and Kindergarten Years-Increasing School Influence

As children develop a sense of autonomy, they need to learn the boundaries within which they can operate, and they must learn to identify new ones they will encounter as they separate from home. Bronfenbrenner's (1979, 1993) bioecological model accurately explains the transitions from the intimate microsystem of home to the mesosystem of outer linkages that come to bear on the developing child's perceptions and behaviour. As parents give their children necessary support, they must also give them freedom to try things on their own. As we noted, one's sense of self first develops in the home and then extends into the neighbourhood, child-care center, and larger community. At school, the teacher and the children's peers begin to alter or reinforce this sense. Children modify their behaviour in school in response to various rules and regulations and to perceived teacher and peer expectations. At the same time, significant others in the home setting continue to influence development as the early schoolers move from basic trust to autonomy and independence.

Many children have school-like experiences in their preschool years. For other children, school as a culture first comes into focus when they enter formal public or private elementary school. In the preschool years, children may encounter several different types of school-like experiences. Head Start programs, child-care centres, and nursery schools all demonstrate somewhat different philosophical orientations. Some programs seek to introduce children to school through a more structured curriculum, others try to extend the nurturance of the home, and still others combine facets of both. The current movement toward universal preschool for children is an indication of the growing awareness of the importance of this developmental stage.

Although it is difficult to conduct rigorous studies to determine the influence of different programs on developing children, we have evidence that quality preschool programs do have a lasting, positive effect on children's academic growth and on subsequent life-skill development.

Primary Years-Growing Community Influence

Community influence appears early in children's lives and progresses steadily as children mature. The effect of community depends, however, on how families use neighbourhood resources. The nature of that effect is not simple; it derives from the many subsystems within the community. For example, the family may live in a neighbourhood that provides positive social and physical support or in an area where parents are afraid to take their children outside.

As children expand their horizons, the living conditions of the neighbourhood and community give them experiences on which to build their linguistic, kinesthetic, artistic, spatial, and interpersonal skills. Children who can visit zoos, museums, libraries, business establishments, parks, and other natural settings are better equipped to deal with the many mathematical, scientific, social, and language concepts discussed in schools than are children who can't. Recent decades have produced a rich mix of cultural and ethnic diversity in many American communities which contrasts starkly with the situation that existed in the mid-20th century. Inclusive schools, ethnically diverse neighborhoods, and transcultural events in most vicinities all produce a positive effect on young children.

Traditions, cultural values, community mores, opportunities for recreation, and other social and cultural activities all play a part in children's development. Experiences interacting with adults in clubs, sports, and art and music activities open up children to differences in communication styles and offer them a range of experiences. Coleman (1991) called this type of involvement with adults a child's social capital and stressed that this capital is as important as financial capital in determining school performance. Maeroff (1999) pointed out how childrern living in poverty may have fewer opportunities to participate in interactive incidents with different adults than those children who do not. Although socialization practices are learned at home, children who participate in community activities have greater opportunities to practice their negotiating, problem-solving, and intellectual skills. Positive interactions between community and family give a sense of security and well-being to all. This situation helps families provide the kind of nurturing that children need. Regrettably, not all communities provide healthy conditions for children. Community tolerance for gangs, illicit activities, or establishments with erotic content will have unhealthy and negative influences on children's growth and the experiences they have. Violence in the streets limits everyone's sense of security. Yet, even in neighborhoods besieged by poverty, extended family, churches, social and service organizations, and neighbourhood groups can make a positive difference in children's lives and support and extend the work of families and schools

Emotional Development

Emotion is the complex psychophysiological experience of an individual's state of mind as interacting with biochemical and environmental influences. In humans, emotion fundamentally involves "physiological arousal, expressive

behaviours, and conscious experience". Emotion is associated with mood, temperament, personality and disposition, and motivation. The English word 'emotion' is derived from the French word *émouvoir*. This is based on the Latin *emovere*, where *e-*(variant of *ex-*) means 'out' and *movere* means 'move'. The related term "motivation" is also derived from the word *movere*. No definitive taxonomy of emotions exists, though numerous taxonomies have been proposed. Some categorizations include:

- 'Cognitive' versus 'non-cognitive' emotions
- Instinctual emotions (from the amygdala), versus cognitive emotions (from the prefrontal cortex).
- Categorization based on duration: Some emotions occur over a period of seconds (for example, surprise), whereas others can last years (for example, love).

A related distinction is between the emotion and the results of the emotion, principally behaviours and emotional expressions. People often behave in certain ways as a direct result of their emotional state, such as crying, fighting or fleeing. If one can have the emotion without the corresponding behaviour, then we may consider the behaviour not to be essential to the emotion. Neuroscientific research suggests there is a "magic quarter second" during which it's possible to catch a thought before it becomes an emotional reaction. In that instant, one can catch a feeling before allowing it to take hold. The James-Lange theory posits that emotional experience is largely due to the experience of bodily changes. The functionalist approach to emotions (for example, Nico Frijda and Freitas-Magalhaes) holds that emotions have evolved for a particular function, such as to keep the subject safe.

References

Allport, Gordon: *Pattern and Growth in Personality*, Holt, Rinehart and Winston, New York, 1961.

Angell, J. R.: *The Evolution of Intelligence*. New Haven, CT: Yale University Press, 1922.

Arndt, William B. Jr. : *Theories of Personality*, Macmillan, New York, 1974.

Baldwin, J.M.: *Social and Ethical Interpretations of Mental Development*. New York: Macmillan, 1897.

Boring, E.G.: *A History of Experimental Psychology*. New York: The Century Company, 1929.

Damon, William : *Social and Personality Development, Infancy through Adolescence,* New York: Norton, 1983.

Dubey, K.C. : *Experimental and Developmental Psychology*, Omega Pub, Delhi, 2009.

Eysenck, Hans : *Psychoticism as a Dimension of Personality*, Pergamon, Elsevier Science Inc, Amsterdam, 1997.

Grace, G. : *School Leadership: Beyond Educational Development*, London, Falmer, 1995.

Hurt, K. F. : *The Quest of the Psychological Jesus*, Unitarian Universalist Christian, 1982.

Kaur, Rajpal : *Developmental Psychology : New Trends and Innovations*, Deep and Deep, Delhi, 2006.

Laub, D. : *Testimony, Crises of Witnessing in Literature, Psychoanalysis and History*, Routledge, New York, 1992.

MacDonald, K. : *Evolutionary Perspectives on Human Development*, Thousand Oaks, CA: Sage, 2004.

Maslow, A. H. : *Motivation and Personality,* Harper & Bros, New York, 1954.

Sen, Anuradha : *An Introduction to Developmental Psychology*, Indian Pub, Delhi, 2010.

Nutritional Status of Scheduled Castes School Going Boys and Girls in and around Gaya of Bihar State

Kumari Soni

Ph.D. Scholar, Home Science, Magadh University, Bodh Gaya, Bihar

Suprita Suman

Reader, Department of Psychology, Magadh University, Bodh Gaya, Bihar

Introductions

Children health is the national wealth. The nutrition and health status of the children is the index of what the nation is investing in the development of the future manpower potential (Bhandari, et al, 1975). Malnutrition continues to be a primary cause of ill health and mortality among children in developing country. About 150 million children in developing countries are still malnourished and more than half of underweight children live in South East Asia, Resion (UNICEF, 2004) . The high level of under nutritional condition in children in South Asia pose a major challenge for child survey and development. National education and family poverty also effect the malnutrition among the school going children. (Christinaensel L; and Alderman H, 2001)

The United Nation subcommittee on Nutrition Meeting held in Oslo in 1998 concluded that more data on health and nutrition of school age children are needed to assess their scale of problem (United National, Nutrition of the school aged, July 1988). Amirthaveni and Barikor (2002) suggested that the health of children is dependent upon food intake that provide sufficient energy and nutrients to promote optional physical, social, cognitive growth and development. In children protein and caloric deficient diet results in underweight, wasting and lowered resistance to infection, stunted growth, impaired cognitive development resulting lower Intelligence Quotient (1Q) and behavioural abnormalities (Gowri and Sanguwan, 2005). Therefore, it becomes very important to know the nutritional status of school going children of scheduled castes in and around Gaya of Bihar state. Gaya district has highest schedule caste population among allthe district of Bihar (State census report 2001). The study has been carried out in Gaya with following objectives:-

1) To Study dietary intake of student (Boys and Girls) between age group of 13 to 16 years
2) Problems related to nutritional deficiency among schedule caste students.

Methods

To undertake the study two hundred students from different primary / secondary schools of Gaya were taken. While conducting study who so ever were available in these category of cast were taken under study. The following parameters were taken under study.

a) Children (boys and girls) of various age group between 13 to 16 years going to schools were taken for study.
b) Dietary habits and diet intake related to nutritional problems were taken under study through questioners.

Two private and two government school out of four selected for each group were taken for study as stated below:-

Private School

1) Primary school, Gaya
2) Urdu girl's School, Gaya
3) Gaya High School, Gaya
4) Tea Modal School, Gaya

Government Schools

1) Girl's Primary School, Gaya
2) Primary School, Swarajpuri Road, Near Station, Gaya
3) Primary school Chandrawati, Gaya
4) Zila School, Gaya

The schedule cast students taken from Private and government school has been indicated in table 1

Table 1

Classes	***Private school***		***Government school***		***Total boys and girls***		***Total***
	Boys	*Girls*	*Boys*	*Girls*	*Boys*	*Girls*	
8^{th} (in no)	30	30	30	30	60	60	120
%	30	30	30	30	50	50	100
9^{th} (in no)	35	35	35	35	70	70	140
%	35	35	35	35	50	50	100
10^{th} (in no)	35	35	35	35	70	70	140
%	35	35	35	35	50	50	100
Total	100	100	100	100	200	200	400
%	25	25	25	25	50	50	100

Studies were conducted among 8^{th}, 9^{th}& 10^{th} class students.

Results

Table 2 indicate that the boys and girls going to private is significantly ($P<0.05$) higher as compared to government school. Vegetarian population is significantly ($P<0.05$) lower in both type of school going children as compared to non-vegetarian. The pulse intake upto ½ to 1 bowel was all most similar

among boys and girls while more than 1 bowel intake was among boys as compared to girls. The sprouted grains intake was more among girls as compared to boys in both type of school.

Table -2

	Private school		***Govt. school***		***Mean***	
Vegetarian (%)	22	21	12	19	17	20
Non-Vegetarian (%)	78	79	88	81	83	80
Pulses 1 bowl of 100g (%)	72	64	65	42	68.5	53
Pulses ½ bowl 100g (%)	32	36	29	58	30.5	47
Pulses More that 1 bowel of 100g (%)	6	1	6	1	6	1
Sprouted grains everyday (%)	15	17	24	33	19.5	25
Sprouted grains weekly (%)	15	13	24	33	19.5	23
Sprouted grains monthly (%)	8	8	12	5	10	6.5
Milk Products daily (%)	18	21	18	10	18	15.5
Milk Products weekly (%)	11	26	22	10	18	18
Milk Products monthly (%)	27	19	5	14	16	16.5
Mean	27.9	27.72	27.73	27.82		
CD					15.62	22.52
CV					25.21	36.39
SEm					4.96	7.15

Milk products being taken in private and government school going boys and girls were all most similar.

Table -3 indicates the nutritional deficiency related problem among children going to private and government school. All the nutritional problems such as headache, pain in eye, water discharge form eyes and other problems were significantly ($P<0.05$) higher among girls going to private or government school as compared to boys. The headache and water discharge were higher in government school going boys and girls as compared to private school. Other problems were higher among government school going children as compared to private school going children.

Table -3

	Private school		***Govt. school***		***Mean***	
	Boys	*Girls*	*Boys*	*Girls*	*Boys*	*Girls*
Uneducated (96)	15	20	25	27	20.0	23.5
Below Matriculation (96)	7.6	10.6	10	10	8.8	10.3
Above Matriculation (96)	10	10	12	15	11.0	12.5
Above Graduation (96)	2	3	3	4	2.5	3.5
Mean	8.65	10.9	12.5	14.5		
CD					9.32	7.89
CV					27.70	19.92
SEm					2.07	1.7

Discussion

With the changing scenario the non-vegetarian population has increased in the society of Bihar State. In Bihar non-vegetarian population is about 65%

(State census report 2001). The change from vegetarian to non-vegetarian is higher which is in similarity to the state census report. The food intake in private school going children was better as compared to government school going children. It indicates the low economic status of the parent sending their children to government school. Normally the high income group children goes to private school and are well nourished. Through the sprouted grains being given daily, weekly and monthly as well as milk products to boys and girls were almost similar. High protein were being provided more than a bowel to boys as compared to girls.

The nutritional deficiency diseases among school going boys and girls indicate that diseases were significantly ($P<0.05$) higher in girls as compared to boys. This is due to less nutritional meal being provided to girls as compared to boys. This is in similarly to the report of chandrika (2006) indicate that over 90% Indian women and adolescent girls are anemic and suffers from diseases more. Headache, pain in eyes, water discharge from eye was more in girls as compared to boys. This is due to understanding of scheduled castes parents with low education that the boys should be given more nutritious diet as compared to girls. However the scenario is changing now and both the boys and girls will be given equally nutrient diet in future time to come.

Conclusion

With change in educational and economic status, the parents of schedule caste will be capable of providing sufficient nutritional food to their school going children. The government is also taking care to provide mid-day meal support to schedule caste children who are building block of the national growth. We hope that in future time to come the status of schedule caste children should change for betterment of nation.

Reference

1. Amrithaveni, M. and C.W. Barikor, 2002, Nutritional status of Meghalaya pre-school children. The Indian Journal of Nutrition and Dietatics, 32:263.
2. Bhandari B., Jain A.M., Padma Karna, AshaMathur and Sharma V.K. (1975) "Nutrition and health status of rural school boys of Udaipur district." The Indian Jouranl of Pedriatics, July 1975, Vol-42, No. 7, P.P. 186-193
3. Chandrika S., 2006. Childhood and adolescent anaemia in India. The Hindu Times News, Sunday, March, 5.
4. Christiaensen, L. and Alderman H. (2001) Malnutrition in Ethiopia; can Maternal Knowledge AugmentThe Role of Income? African Region working paper series 2001; 22. http//www.worldbank.org/afr/wps/index.html
5. Growri, A.R. and H.J. Sangunam (2005) Assessment of mental and motor abilities of school going children with anemia. Ind. J. Nutr. Dieted., 42: 99-105
6. State census Report 2001 (Govt. of Bihar)
7. UNICEF (2004) state of world children, 2004
8. United Nations, Nutrition of the school Aged, Administrative committee on Co-ordination Subcommittee on Nutrition (ACC/SCN), July 1998; SCN News No .16 PP 3-23.

Acceptance of Life: A Recurrent Theme in the Major Novels of Kamala Markandaya

Mahesh Kumar

Research Scholar, Department of English,
T.M.B.U., Bhagalpur

Although Kamala Markandaya is not a novelist to put forward all that she writes on as an organic whole, her major novels in the main are variations on a recurrent theme of 'acceptance of life'. She dives deep into the socio-economic and political condition of life of the Indians and discovers the distinctive feature of their attitude to accept life in its totality. She also tries to distinguish them from the people of other countries in respect of their attitude to accept life. That is why she has brought in characters from the West to compare and contrast the Indians' attitude to life.

Markandaya's novels treat the subtle realities of life of the common man-be he a peasant, a youth lost in the political confusion of the struggle for independence of the country, an Indian traditional house-wife , a government employee, an illiterate peasant boy with a gift of painting, an unfortunate youth wandering for a handful of rice, a tribal chief, a labourer, an Indian immigrant, a virgin or a Maharajah-which are diverting rather than disturbing the apprehension of which makes for acceptance of life.

Nectar in a Sieve(1954), Markandaya's very first novel presents a picture of a peasant's family— a microcosm of the toiling peasantry. The novel shows that it becomes increasingly difficult for the poor to keep their body and sout together. But a closer and careful study of the novel suggests that Kamala Markandaya puts more emphasis on the depiction of the Indian women's attitude to accept life than on the portrayal of their socio-economic condition in the changing phase of social life in India. Rukmani, who typifies the Indian women is the protagonist as well as the narrator of the story. She experiences the irremediable pains of change. There is no illusion in her life and she is disturbed by no desire. To Rukmani misery, sorrow and suffering are essential part of life. This elevated and philosophical vision of her life is the outcome of her attitude to accept life in its totality. Another character who exhibits the spirit of acceptance of life is the Old Granny. She fights with an unending problem of livelihood in her old age. However, she accepts her life and goes on living with her meagre income from selling vegetables.

Kamala Markandaya's second novel, Some Inner Fury (1955) is politically a war cry of the Indians against the Britishers. It dramatizes the lives of the Indian

people lost in the political confusion of the struggle for freedom. When Govind is put on the trial in the court with the charge of Kit's murder, Mira decides to leave Richard because he belongs to the community of the West. She could have gone with her fiancé-Richard, despite what happened in the courtroom. But in respect of her attitude to life she is deeply rooted in the native conception of life. Like Rukmani in Nectar in a Sieve, Mira's belief in the native conception of life gives her strength enough from within to face the miserable condition of life. She exhibits herself as capable of bearing the extreme pain of her separation from Richard. A woman of fortitude and having a deep understanding, it is she who accepts her fate after her separation from Richard. Her acceptance of fate in an unexpected situation is transmuted into acceptance of life because of which she escapes the imbalances of mind, body and spirit. Thus through the portrayal of Mira Markandaya brings to light the spirit of acceptance of life in her attitude who may opt for suffering and self torturing instead of seeking her personal happiness.

A Silence of Desire (1960), Markandaya's third novel shows how husband and wife embroil each other by silence at times when their real need is to unburden their hearts. The story revolves round the character of Dandekar, a clerk in modern India who centres his whole peaceful life around his adored wife Sarojini and three children. The venue is no longer the village but the city. Sarojini appears as a typical model of Indian house-wife with her hitherto unquestioned loyalty. Since Markandaya's intention is to focus on the spirit of acceptance of life on the part of her Indian characters she portrays them capable of bearing great suffering. On Sarojini's part, it is she who accepts to suffer the risks of Dandekar's dissatisfaction during her several visits to the Swamy. She also shows a quality of acceptance of life which owes itself equally to the strength of her character and the Swamy's final injunction. The Swamy had prepared his devotee for her going. Sarojini also learnt acceptance of life as part of that preparation.

Possession (1963), Markandaya's fourth novel deals with the contradistinctive values of life of the East and that of the West. The scene of events in the novel shifts from India to England and America and again back to India. There are two striking characters in the novel— the wilful woman Caroline Bell and Val(Valmiki), an illiterate peasant boy with a gift of painting. The novel deals with the problem of 'possession' of the Indian boy Val, by the English woman Caroline in fictional mode. But at the end of the novel, Caroline appears with her waning in power of possession and that Valmiki succeeds in extricating himself from her clutches. Valmiki's release and then his departure to wilderness may mean Caroline's defeat but it also means a spirit of acceptance of life on the part of Valmiki's attitude who ultimately accepts to live in his native land. His final return to the Swamy's cave in India after spending many years in England implies his attitude to accept life only in Indian milieu.

A Handful of Rice (1966), Kamala Markndaya's fifth novel is a poignant story of grim poverty and perpetually gnawing hunger. Ravi (Ravishankar), the protagonist is of the view that the economic exploitation begins when people

accept life without any protest against social and economic injustice. And hence having some ambitions for the betterment of life Ravi reacts against social injustice but Nalini, born and brought up in a traditional Indian family, is naturally simple and pleasant, modest and shy to be precise a typical model of an Indian woman. She is so simple that there is no ambition in her life. Moreover, she is fully satisfied with her predicament and accepts her life as it is given to her. Her attitude to life is deeply rooted in the traditional values of life which is a typical trait of a traditional Indian woman.

The Coffer Dams (1969), Markandaya's sixth novel marks the juxtaposition and interaction of the Eastern attitudes to life with that of the Western. The plot of the novel revolves round the construction of a dam by a British firm to control and channelise the turbulent river somewhere in South India. Although the Dam is being constructed with the help of the Indian tribals yet Clinton treats them indifferently. The manner in which Clinton at first refuses to accommodate the thinking of Indians about dead bodies is symbolic of his hateful attitude towards them in general. But at the same time Indians' refusal to work in the construction of the Dam unless the dead bodies of forty two men of their own race are retrieved and the due rites are carried out, is suggestive of their spirit of acceptance of life on the basis of the Indian cultural and traditional values of life.

The Nowhere Man (1972), Markandaya's seventh novel successfully explores the theme of acceptance of life on the part of the character of Srinivas. His attitude to life is deeply rooted in the Indian soil and culture. When he has to face an identity crisis, he does not hesitate in putting on Dhoti and Kurta as his father did while he was a lecturer and Srinival was a student of B.A. in the Indian college. What makes him heroic is his attitude to accept life based on Indian cultural values even in an adverse and hostile condition of life in a foreign country. Moreover, Shrinivas's wife, Vasantha also appears as a true Indian wife with the same spirit of acceptance of life whose attitude to life is deeply rooted in Indian soil. She also clings to her Indian view of life even while living in England.

Two Virgins (1973), Markandaya's eighth novel exhibits two different attitudes to life— either being too traditional or too modern on the part of the various Indian characters. There are the portrayal of Appa and Lalitha who exhibit modern attitude to life. Then there are the portrayal of Amma, Aunt Alamelu, Appa's widowed sister-in-law, Saroja and Manikkam who exhibit a spirit of acceptance of the traditional values of life. All these women characters resemble with Rukmani in Nectar in a Sieve, Sarojini in A Silence of Desire and Vasantha in The Nowhere Man in respect of their thoughts, feelings, sentiments and attitude to life as well.

In The Golden Honeycomb, again Markandaya displays the spirit of acceptance of life on the part of Indian characters making focus on their attitude to life. There are characters who are loyal to the country from the core of their heart. Mohini, her son Rabi, the Pandit, the Dewan, Manjula, Dowager Maharani show their attitude to life deeply rooted in the native soil and culture as well.

Some of these characters strive hard to make free their country from the hands of the cruel British Rulers and some of them show their assertion in the traditional Indian cultural values of life. In respect of their attitude to life these Indian characters are deeply rooted in the native conception of life. Their belief in the native conception of life gives them enough strength from within to face the tragic stroke of life. Even among some of these characters who come under the influence of the British rulers prefer to suffer rather than surrender.

In Pleasure City (1982), Kamala Markandaya's latest novel, the attitude to accept life on the part of the characters of the two different nations is based on mutual understanding and sympathy for one another. Markandaya is not so much involved in the depiction of the inner conflicts of her characters as she depicts their attitude to accept life in course of her discussion of the common issues that exercise their mind. Tully and Rikki accept their life not with an attitude of a master-worker relationship but with an attitude which is nourished by sincerity, honesty and sympathy for each other. Moreover, such cordial attitudes of the characters of the two different races to life are also observed during their exchanges of small presents for each other. Thus the novel is an indepth study of nature, kind and quality of human relationship with the description of essential conditions for its proper growth and health.

Indeed, the theme of 'acceptance of life' on the part of her Indian characters, particularly Indian women whose attitude to life is deeply rooted in the Indian traditional values and spiritualism imposes on the thematic pattern in the novels of kamala Markandaya within which lives of Indian characters appear to be working themselves out rather than worked out. It is not a 'resignation' that connotes passivity but 'acceptance' that characterizes the attitude of the Indian characters to life which they appear to adopt even in the miserable condition.

References

1. G.S. Balarama Gupta, Studies in Indian Fiction in English, JIWE Publications, Gulbarga, 1987.
2. R.K. Dhawan, Indian Women Novelists, Set-2, Vol.2, Prestige Books, New Delhi, 1991.
3. A.K. Bhatnagar, Kamala Markandaya: A Thematic Study, Sarup & Sons, New Delhi, 1995.

Effects of Problems in Speaking English language by Students at Graduate level in India

Dr. Anupama Singh

Associate Professor (English), University College, Kurukshetra University

Girija Shankar

Sr. Research Officer, IGNOU

English symbolizes in Indian minds, better education, better culture and higher intellect. In present times, English is the most preferred language. The Indians and the Indian English language press uses many words derived from Indian language. Indian accent is sometimes difficult for non-Indians to understand. Actually English has co-existed in the Indian sub-continent alongside thousands of local languages. It has remained at the heart of the Indian society. According to recent surveys, approximately 4% of the Indian population use English. That figure might seem insignificant, but out of the total population it represents 35 million speakers. It means India is the largest English speaking community outside USA and the UK. As India celebrates its 60th year of independence from British rule, English continues to expand its empire. English is virtually the mother-tongue for many educated South Asian, but for the vast majority, it remains second language. So English, spoken by such speakers is heavily influenced by speech patterns of their ethnic language.

Language learning is a natural process for the natives. The approach to this learning process is called the 'behaviouristic approach'. But for the students of other languages, deliberate efforts are required to learn a foreign language which requires a 'mentalistic approach'. The students of rural and semi-urban areas in India face such problems because English is not their mother-tongue. It is neither instinctive nor intuitive. Language acquisition seems to be a process of both of analogy and application, nature and nurture.

People from different provinces in India speak different languages. Indians have varied forms of social etiquette, religious-philosophic customs, socio-cultural patterns and socio-linguistic parameters. A multiplicity of language patterns is the hallmark of socio-linguistic reality in India. Language behaviours varies from Socio-geographic group to group, as does the way which languages are officially recognized and used for communication purposes. English is being studied /taught in greater or smaller degree in schools, colleges and the universities all over the country.

Teaching of English suffers from the general malaise that afflicts the educational system of India. It has been dawned upon the country's educational policy-makers that if English is at all learnt and taught then it should be learnt and taught well. This implies the learning and teaching of English in terms of the well-known four basic skills of language learning, viz., speaking listening, reading and writing. Listening and speaking are the two neglected skills in classrooms in India. We cannot expect a uniform standard of pronunciation for a second language in such a vast country, where even the mother tongue is spoken differently by different groups of the people belonging to the same language community. In learning to speak English, the mother tongue generally interferes with its pronunciation. The learners as well as the teachers speak English with regional language habits. Since English is not a medium of instructions in

Indian students cannot practice and perfect their English .Even during the English periods most teachers teach English without giving the students proper practice in speech because they are not properly equipped enough to practice it. The result is that after learning /teaching English for many years at school and college, most people cannot speak and write the language with intelligible accuracy.

To put it in simple words, the barriers are often caused by students' respective mother tongues and their inability to communicate with each other in English. Yes, there is a short period of time, when language and communication can pose problems. Students who wish to live in a group will find ways to overcome barriers. Those who wish to alienate themselves will look for loopholes such as language barriers to isolate themselves. The problem is not with the language but with an individual's ability to surpass it.

Maximizing the learning results of our English students, certain issues have often focused on issues including language teaching, learning theories, teaching materials, teaching approaches and methodologies, syllabus design, etc. Though research is being undertaken everyday, much of it has been powerfully constrained by Western cultural assumptions. Little research has been directed to the topic of how the local educational/teaching environment has influenced students' learning when the students are not English majors, but studying English as non-majors due to educational requirements and professional needs. This fact may at least lead to the result that local English learning problems remain unsolved for long periods of time. Through survey data analysis, students' perspectives about English learning and the fears of learning English that may have grown out of previous experiences are documented. It is the authors' belief that a better understanding of language learners can have a beneficial effect on the process of attempting to help language learners in learning English as a foreign language. Unfortunately, while communicating orally in English, the learners usually encounter varied linguistic problems that evidently hamper their communication. The goal of the present day is to find out the major barriers of communication in English faced by the students at the tertiary level. And also tends to find out some effective and necessary solutions of the problems, so that, both the teachers and the students can be benefited in their objectives. The data for the present study were obtained through some

audio texts and oral presentations. The findings of the study show that unfamiliarity with the sound system of English, inadequate range of vocabulary, inability to form certain grammatical constructions Listening and speaking, two of the four skills of English language, have been considered as a crucial problem for the tertiary level students. They also often find English word formation and sentence construction quite problematic. Moreover, the learners suffer problems in learning vocabulary items and to convey meanings through and/or receive meanings of words, phrases, clauses, sentences/utterances and so forth. Such problems obviously seriously hamper the learners' oral as well as written communication. Therefore, it seems reasonable to take account of and identify what major linguistic barriers the students encounter in oral and written communication and what measures can be taken to overcome those barriers. Only those who have actually taught English in India can visualize the scene of fifty, eighty, even more than hundreds students learning together in a single classroom. English teaching/learning theories, approaches or methodologies established in the past do not often take the reality of large class sizes into consideration. Little credit can be given to their practicality in terms of actual application in such classroom settings. For example, it seems to be the case that whenever big class size is encountered, a much more common language learning environment is missing and local language environment and dialect is seen most, we are also hopeless in attempting to adopt the newest established theory, approach or methodology. This example is strongly related to both social/cultural/economic differences as well as local teaching/learning problems that appear to be insoluble. If the local situation remains unchanged, even after years of local researchers and practitioners advocating of sound teaching and learning theories and methodologies that seem so well established in the West, there must be some facts that require re examination at a more fundamental level than previously thought. The inescapable answer seems to be that current theories are powerfully constrained by Western cultural premises.

Indeed, when discussing any issue about language teaching and learning, cultural differences should contribute tremendously to the thrust of the discussion. Issues may include the differences of educational systems, learning conditions, teaching and learning styles, learning differences between Western and Eastern cultures and differences in needs for language use in the job market.

Those who have had the experience of living or being educated for a period of time in the West may have noticed that students are not afraid of asking questions or using the target language even when producing errors. In Karnataka, most students remain silent even when they want to ask questions and participate. These students are very conscious of making errors in front of their classmates.

India has a Confucian culture, which seeks compromise between people. When it is applied to language learning, it is obvious that students are reluctant to air their views loudly for fear of losing face or offending others. In addition, there are some English sayings, which discourage oral communication in class. The following are some examples: Silence is gold; it's the noisy bird that is easily shot dead; a real man should be good at thinking, but weak at speaking;

don't speak out unless spoken to; keep your mouth shut but your eyes open; keep silent unless you can burst on the scene like a bombshell.

It is found in research with some students responding that they hate English and are afraid of it. Where did these fears arise? Part of that experience included physical punishment dished out by teachers and insulting comments from classmates or friends, and maybe even parents, due to poor performance on examinations. While the situation has been improved somewhat, physical punishment due to poor performance in English examinations is still being practised in some institutions. Another possible source of fear, also related to cultural, was found that even adults who studied English, without grade pressure, did not dare speak English in front of other people due to the fear of making errors. Additionally, fear of making errors and losing face was among seven factors that influenced university students' willingness in participating in classroom oral communication.

References

P.48. 'Post colonial Literatures in English - History Language Theory' by Dennis Walder, Blackwell Publishing.

Edward M. Anthony's 'Approach, Method & Technique English as a Second Language' by Allen & Campbell. T.M.H. Edition.

Collins co builds English Dictionary for Advanced Learners Published by Harper Collins 3rd edition 2001.

P.6. 'Teaching of English As a second language by J.A. Bright and G.P. McGregor', Published by English Language Books Society and Longman Group Limited.

Collins co builds English Dictionary for Advanced Learners Published by Harper Collins 3rd edition 2001.

P.6. 'Teaching of English As a second language by J.A. Bright and G.P. McGregor', Published by English Language Books Society and Longman Group Limited.

Balasubramanian, Chandrika (2009), *Register Variation in Indian English*, John Benjamins Publishing, ISBN 90-272-2311-4

Ball, Martin J.; Muller, Nicole (2014), *Phonetics for Communication Disorders*, Routledge, pp. 289–, ISBN 978-1-317-77795-3

Baumgardner, Robert Jackson (editor) (1996), *South Asian English: Structure, Use, and Users*, University of Illinois Press, ISBN 978-0-252-06493-7

Braj B. Kachru (1983). *The Indianisation of English: the English language in India*. Oxford University Press. ISBN 0-19-561353-8.

Gargesh, Ravinder (17 February 2009), "South Asian Englishes", in Braj Kachru et al, *The Handbook of World Englishes*, John Wiley & Sons, pp. 90–, ISBN 978-1-4051-8831-9

Hickey, Raymond (2004), "South Asian English", *Legacies of Colonial English: Studies in Transported Dialects*, Cambridge University Press, pp. 536–, ISBN 978-0-521-83020-1

Lange, Claudia (2012), *The Syntax of Spoken Indian English*, John Benjamins Publishing, ISBN 90-272-4905-9

Mehrotra, Raja Ram (1998), *Indian English: Texts and Interpretation*, John Benjamins Publishing, ISBN 90-272-4716-1.

Teaching English Language in Schools in India- Problems and Remedies

Dr. Arun Kumar

Associate Professor, Dept. of English, College of Commerce, Patna

English, although a foreign language is now as much an Indian language as any other. English has been taught in our schools and colleges for many decades. It occupies the position of associate official language.

It is used widely as a link language in offices and among the educated people. It is not only a compulsory subject at school, college and university but is also the medium of instruction to the large extent. It is the language of science and technology. It occupies the position of a second language in the school curriculum and for higher education. English language has been assigned the role of library language. Without exception every secondary school child has to learn English as a subject, usually for six years but in some cases for three years only.

This contemporary position of English in India shows English language teaching occurring at all levels of Education, mainly as a second language.

If language teachers teach as they taught earlier, then one may not achieve the required goals of teaching English in the present global scenario. This paper deals with the importance of teaching English to fulfill the ever growing demands of English. The methods and approaches adopted or followed by teachers in the past to teach English language, the lacunae in their language teaching which is the second language for both teacher and students is discussed.

Challenges before teachers in present day ELT are taken up in this study. The way in which students can put their learning into practice in day-to-day use to fulfill their practical demands through effective communication skills apart from gaining command over English language is highlighted.

Soft Skills are part of Communication Skills. Soft skills comprises of the skills which an individual uses to inform, to persuade, to explain, to present, to understand, elicit information. One may hate soft skills as he / she doesn't posess the essential skills of persuading, explaining, understanding a spoken word. But today one cannot ignore the roll of soft skills in any learning process, more so in learning and teaching a language.

As English has turned into a universal language, its presence and value in the world has expanded enormously in the past decades. Many money-earning activities such as BPO, Medical Transcription and IT add to the importance and relevance of English in every walk of life.

Conventional English Language Teaching

In the past, students were introduced to English only in their sixth standard. Students learned English just as another subject like Physics and Mathematics and got very little opportunity to using it within the school as well as outside the school. The above context was appropriate for the use of methods that did not focus much on communicative competence. Language teachers adopted and followed some or all of the different methodologies listed below to teach the language.

1. Grammar Translation Method

Grammar translation method was used by the teacher to teach young children, where teacher explained every word to students in the native language to make him understand and learn English. But in this method there was at least one disadvantage. Both the teacher and the student concentrated more on L1 rather than L2. In this method English language class seemed to be L1 class rather than L2 class. Students got only limited benefit through this method.

Unfortunately, this method is still in use in many rural schools throughout India. This method is also supported by the methods used to teach mother tongue in our schools.

2. Bilingual Method

May be we should declare this as the method, our own favourite method in our schools. Most teachers follow the bilingual method to teach the students in Indian schools, where the teacher first of all explains the entire English sentence in L1 and then asks the students to perform activities in English. Here, it used to be a main assumption that only the teachers have the freedom to take the help of L1 and students are not supposed to use it, However, this constraint is found mostly on paper, not in the classroom. When a student is in the process of composing his or her English sentences, abundant help through the use of mother tongue sentences is provided. This method does not help fluency and naturalness in language expression. Thus, this method became beneficial to, students in learning the second language only up to some extent.

3. Direct Method

Earlier, teachers used to follow the direct method to teach Indian students mostly in private schools, which usually charge a higher tuition fee, etc. These teachers will stick to the practice of using only English, without depending on L1. Here, teacher is not supposed or authorized to use any single word from L1. This forced seclusion made students from many families with no past history of learning or using English face great difficulty in understanding certain words and their meanings. But this method turned to be more useful for the students to learn language than any other method as this method creates more encouraging language environment for students in the class room.

In the Context of English as a Subject

All the above methods have their own advantages and disadvantages, where the students learned English only as a subject rather than as language. They

were also unable to put their learning into practice due to lack of a favourable environment.

In addition to the above constraints, the teachers used to have very limited teaching hours, mostly from three to six hours per week which are not enough to teach the language elaborately giving emphasis for the basic elements of language.

Another limitation seen in Indian teachers is that some of the English teachers are not familiar with the latest developments in ELT pedagogy. The situation is no better even at the college level. The most serious problem in the teaching of English in the country is the appallingly small quantity and atrociously poor quality of English to which learners are exposed Teaching of English in India is examination-oriented only.

A Challenge in Teaching English Today

Challenges before the English Language teachers in India are enormous and apparent. They should be able to cater to the practical needs of learners, to make them competent enough to interact with one another and also to retrieve information all over the world.

English has a base in several countries and is considered as the most suitable and convenient tool for International Communication. The people who have proficiency in this language could access large number of jobs and also were seen holding high positions in many National and International Organizations.

In the earlier days English was just like a Library language, but now that notion has changed totally. At present the challenges visible before the English language teachers in India are diverse and it is necessary for them to shape up accordingly to meet the demands of the day.

Methods Adapted to Improve Spoken Skills

1. Group Discussions

Now due to the world wide growing trends in English, teachers give more emphasis to communicative approach rather than the lecture mode. Their main goal is to make the students effective communicators in English both inside and outside the class room.

To achieve this, they involve the students to participate more in classroom activities so that they will acquire adequate command over speaking skills. To create this environment, teachers can conduct group discussions, where students are supposed to speak only in English. Here, they can give their views, ideas and thoughts in English due to which they develop the habit of speaking fluently in English like they do in their mother tongue.

Various types of discussions also help students to improve their general awareness and understanding about current affairs. It gives a lot of scope for good imagination and deep thoughts. This type of discussions helps the students to listen to the views of fellow students which in turn helps them to gain knowledge and enrich the vocabulary also.

2. Debates

Debates too play an important role to improve the speaking ability of the students both at school and at higher level. Debates not only make the students to speak boldly and fluently but also help them to take one stand and be firm and consistent on that. Along with this advantage of reasoning, it gives students some experience to control their emotions without losing their temper. This also helps them to organize their thoughts and ideas in a specific way while speaking.

3. Role Plays

Role-plays are another important task that can improve the basic colloquial English of the learners. In role plays, the students assume themselves as one of the characters and behave and speak accordingly involving in the given character completely. In these types of activities teachers have to play a vital role as instructors and guide the students properly so that they can act appropriately to meet the situation. They should help the students now and then to understand and take up the role given to get a grip on the tone of voice.

4. Computer assisted Language Learning (CALL)

Now-a-days computer has become a part and parcel of our day to day life. It plays a vital role in the process of teaching and learning. It can be used to learn a foreign language like English. Computers have made language learning easy and also made the language learning process interesting and enjoyable for both teacher and student throughout the world. CALL has reduced the burden of the teacher whose teaching methods will be out dated to teach language to present day generation of the world. It is described as one of the interactive methods that can help a learner according to their own ability to learn, which enriches their language skills. CALL enables the learner to look beyond the conventional mode of learning and encourages self learning.

English for Specific Purposes

As English has emerged as a global language, it also plays a vital part in every profession with respect its importance and demand. Every profession has its own professional terminology which is used frequently in that particular profession. For example, certain terms used by the doctors, lawyers, et al. are quite different from those of other professionals. So, to benefit these professionals, English for specific purposes is introduced so that specific English words related to that particular profession can be taught by those professionals. Jargon related to one profession is different from the other. Hence every professional is taught in a particular manner that fits in well with his professional demands.

Teaching Language through Visual Aids

One of the innovative methods used by the teacher to teach language in class room is visual aids. The teacher distributes visual aids to students by dividing them into various groups. The students are then given stipulated time to extract relevant information on the given aids. After that, those learners are

supposed to speak about the visual aids given to them. This method expands the analyzing capacity of the students. By looking at the picture, the learner should think and come out with innovative thoughts which also help in learning language by creating fun-filled environment around them. The teacher acts as facilitator who motivates the students to talk freely. As each person gets their own unique thinking it helps to sharpen their thinking process.

Language Games

In addition to the above mentioned methods teachers also use various language games to teach English language apart from the conventional ways of language teaching, which helps in developing vocabulary from the language that is being learned.

1. Crossword puzzles
2. Games to teach basics of grammar to the students through various structures.

Conclusion

To meet the present day challenges in teaching English, first of all, English should not be treated as a subject as it is to be used actively in interacting with one another throughout the world. By using conventional methods, maximum portion of class time will be wasted in exercises and drilling, dealing with grammar and pronunciation which takes away a large portion of class time. These methods were mostly used to develop basic skills of language learning such as Listening, Speaking, Reading, and Writing, but by following these methods listening and speaking skills were neglected as students cannot put their language in practice.

In the era of competitive world, where the majority of the students are attempting GRE & TOEFL, good listening and speaking skills become an absolute necessity. Communicative approach has been totally neglected by teachers and learners which has become a global demand where students are supposed to communicate across the globe. Teachers should act as facilitators, and should observe how well students organize their thoughts while speaking with their fellow members. As language changes geographically due to dialectical variations, the teacher should take adequate steps to teach their student about neutral accent and their importance while communication. Clear pronunciation, not perfect pronunciation, is the goal. Students are also now facilitated by software to practice pronunciation through phonetics. To achieve the goals of language learning today every college should be provided with language lab, sophisticated equipment like computers, LCD Projectors.

In addition to these, our faculty too should update their knowledge, skills and should acquire thoroughness over their syllabus to meet the demands of globalization since English is seen as a key educational investment in this world. If provided with the latest language teaching tools and with the support of technology, one can teach the language effectively and motivate the students towards language learning.

References

Bansal R. K. 1965 The Intelligibility of Indian English, Orient Longmans, New Delhi.

Chomsky N. 1965 Aspects of the Theory of Syntax, The M.I.T. Press, Massachuacts.

Corder S. Pit. 1981 'Error Analysis and Inter-language', Oxford University Press.

Gokak V. K. 1952 English in India, Orient Longmans, New Delhi.

Krashen, Stephen. D. 1972 'Second Language Learning', Oxford University Press.

Vishvanthan Gauri 1972 Masks of conquest, Faber and Faber.

Yardi V. V. 1977 'Teaching English in India Today', Samarth Prakashan, Aurangabad.

L .N. Kinnock.2006. The "English factors in globalization", Those Who Wish To Influence The Future Must Prepare For It. Page 7.

Wood Carving Techniques in Ancient India

Prof. (Dr.) Arvind Kumar Singh

Professor, Department of History, D.K. College, Dumraown (Buxar)

"The study of technology is an essential key to the understanding of a people's culture"'. This is a very significant statement made by M.J.Harskovits in his monumental work on *Man and His Works.* It cannot be denied that in man's struggle for survival, resources and techniques are his greatest assets.

In India, the study of the technology of crafts has not been made in a systematic manner. A good deal of work has, however, been done in respect of the artistic appreciation, socio-religious significance and aesthetic appraisal of ancient, mediaeval and contemporary Indian art, architecture, sculpture, painting, etc., but so far as the technology of crafts is concerned, only a few casual references from ancient texts or some results of stray investigations on the technology of a few excavated and explored artifacts have been recorded without any fruitful analysis.

As a result, we have so long been deprived of obtaining a true picture of the technology of a good number of traditional crafts with special reference to their evolution, development or ups and downs in different epochs of Indian history. But if we carefully examine the materials at our disposal, there is some possibility of tracing out the sequences of the technology of at least some of the important age-old crafts flourishing in different periods starting from the earliest times down to the present day.

In this essay an attempt is being made to study the techno-history of wood-carving, which still play a significant role in the socio-economic life of the sub-continent. It is true that many of our craftsmen have given up their traditional occupations and have taken to petty shopkeeping, service and even professional like law and medicine, but still there are thousands of craftsmen who patiently and unobtrusively ply the trade of the fore-fathers, and produce masterpieces of crafts specimens with the aid of simple age-old tools, techniques and equipments.

The techniques of wood-carving have been practised in India since very ancient times. In constructing palaces, temples and houses, wood was the main raw material used. As these were mostly constructed in perishable wood, little remains to speak of its antiquity more clearly. A careful examination of the stone carvings of the ancient period, however, shows that the technique of wood-carving was later on transformed into the stone-work technique. Those craftsmen who handled wood changing to stone found it difficult to forget completely their old style.

The technique of wood-carving also finds mention in the ancient literary texts. The wood-carver is seen plying his trade with the hatchet with the hatchet,

the adze, the chisel and the mallet (Vasipharasunikhadanamuggare) and the measuring line', which he draws out at length or winds up short' or which he puts round a log of wood with black dust to guide his saw tacchako kalasuttam anulometva rukkham tacchati) he bends a log of wood (darun namayanti tacchaka) and discarding soft parts of the wood takes the hard parts (pheggum apaharitva saram adiyati) as obviously in the case of ebony of which the outside id soft and inside hard. Panini also refers to tanukarana or hewing as the chief part of the carpenter's work. Amongsthis tools reference is made to udghana, the bench on which he works.

An idea of the ancient method of wood-carving may also be had from the oldest known remains of Indian wood works found in the farming at the entrance to one of the big chaityas at Karli. The pillars obviously executed by means of different types of chisels, are quite plain like those of the earliest caves, while the capitals or brackets are shaped into pendent lotus and tasselled forms, often massed one above the other, and some times provided with lateral struts carved as figures of horsemen or elephants' another specimen of ancient wood-carving made by chisels has been found at Arikamedu near Pondicherry in South-East India". The specimen belonging to late first century B.C. or early first century A.D. appears to have been fashioned from a block of wood with its central portion scooped out. The specimen resembling a cumbrous shutle, possibly represents a toy-boat.

In olden times much of the carving seems to have been done by free hand assisted by rough outlines drawn on wood. Even a stencil would only give the outlines, while relief carving as well as low and deep undercutting used to depend on the skill of the worker. The crafts-men translated the shape in his imagination into perfect form in wood with extraordinary deftness. Moreover, before starting his work, he has in his mind clear perception or image of the final shape of the article.

The techniques of wood-carving as practised by the present day wood-carvers of India are mainly traditional, though there are some negligible variations in both materials and techniques in many wood-carving centres in the country. A consolidated account of the techniques as followed by the craftsmen of a few important centres is presented below ".

Nowadays, the piece of wood on which carving is to be done is first cut off in required size from the log and given proper shape. For this purpose, straight lines are marked with the help of a string dipped in chalk or red ochere (geru). The piece is carefully trimmed with the adze to give the desired shape.

After drawing the outline on a selected log of wood the superfluous portion in first taken out to give it a rough shape. The real technique and skill, however, lie in the subsequent operations, which require on the part of the carver true knowledge of forms and correct use of the tools which would enable him to deftly take out the unwanted portion by means of gauges and chisels of different sizes with the manipulation of strokes through the movement of hand. Starting with broad outlines, the artisan proceeds from simple to intricate carvings.

Beginning with large tools, he progressively uses finer chisels, smothering surfaces, carving veins, giving light and shade, curves, relief, chipping off spaces in the recesses or decorating the background. The chisel in hand, lightly held and freely manipulated by the fingers, is tapped by the mallet with repeated strokes, light or heavy according to necessity. Thus the craftsman works from low to moderate, and moderate to high relief and carries out low or deep under-cutting as required by means of very simple tools. In most cases the finishing is done by innumerable patient strokes of finer chisels. For smoothening roughages indigenous files are used. On bold carving work dry coconut husk is also rubbed.

Of the tools utilised by the wood- carvers for minute details, special mention may here be made of chisels and gauges of various sizes and shapes ranging from the point of a needle to three-fourths of an inch. They also vary in number according to the extent of artistic ability of the craftsmen, the nature of carving and the quality of wood on which they work. Different sizes of chisels are also used for different purposes. The largest size which has a breadth of about 6 inches at the edge is generally used for levelling flat surfaces before the plane is applied for smoothening. Chisels of smaller size of 4 inches, 3 inches, 2 inches, half-an-inch, etc. in width are used for different purposes like rounding the edges, cutting timber into pieces, making holes and for other old purposes.

For preliminary work like cutting and preparing pieces of wood to be carved, the artisan, who is also skilled in simple carpentry, uses the common tools like hand-saw, adze, plane, chisel and drilling equipments. Other small instruments include a centre-bit, screw-driver, a hammer, a foot-rule and a hone for sharpening chisels. But main dependence of the carver is on a large number of small handleless chisels, guages and punches of various size and shapes worked with the help of a mallet of wood used to strike the chisel. It may be noted here that in the production of wooden models ordinary tools are used by the craftsmen. It is only when the finer items of work like the carvings of the eyes, ears, nose, lips, locks, etc. of a statue are done, the sharper and more tiny tools specially suited for carving are used. The tools used in sandal wood-carving mainly consist of a saw, a plane, a mallet, a hone and a chisel. The saw is an ordinary hand-saw used for cutting the log into planks in required size. The plane is used for smothering the surface of the plank to be operated upon and for planning cornice or moulding. The mallet is a strip of wood having about 9" to 21" in length. The hone is a rough slate of finely grained hard stone with one face rubbed down used for sharping tools. The chisel is the instrument used for carving which is in many forms employed according to the nature of carving. One is called firmer, a flat instrument curved or screw edged. The screw edged firmer is to work out sharp corners. Another is hollow chisel of varying size and curvature of edge and the other is engraver. These tools are generally made by the local craftsmen. Some of them are very delicate and minute, designed to work out extremely delicate and slender fingures. The tools needed for carving of walnut wood articles are not many, nor are they eleborate. For shaping and

carving articles, a carver generally needs assortment of both carving and ordinary carpentry tools which include straight and curved chisels, a plane and a hand-saw. Be-sides these tools, various other elaborate carpentry tools and equipments such as lathe, freight saw, drilling machines, etc. are also used by the carvers.

Reference

1. M.J. Harskovits, Man and His Works, Ncw York, 1952, P. 241.
2. Kalasutta Jataka, II. 405 and IV 344.
3. Dighanikaya, XXII. 2
4. Milindapanho, 413
5. Dhammapada, 145.
6. Milindapanho, op. cit.
7. III. 1.76
8. III. 3.80
9. A. K. Coomaraswamy, The Arts and Crafts of India and Ceylon, 1913, Chapter VI, p.p. 163-164
10. Wheeler, Ghosh and K. Deva, " Arikamedu : An Indo-Roman Trading-Station on the East Coast of India", Ancient India, No. 2, July 1946.
11. Mainly based on the personal observations in the field. See also R.K.Trivedi (ed.) Census of India 1961, Vol. V, Part - VII-A(2), "Wood Carving of Gujarat", pp. 28-32; M. K. Devassy (ed) Census of India, 1961, Vol VII, Kerala, Part VII-A " Selected Crafts of Kerala", 1964, p.p. 178-180; Handi crafts Survey Report No. 36, " Wood Carving Industry, Srinagar", published by the All India handi crafts Board, New Delhi, 1965, pp. 6-7 and T.M. Abraham, handicrafts in India, 1964, New Delhi, pp. 62-77
12. Census of India 1961, Vol XXIII, Part VII, 1966, Wood Carving and Wood work, Handicrafts of Nagaland, pp. 33-45
13. Census of India 1961, Vol. IX, Madras, Patrt VII-A (vi), 1965, Wood carving of Madurai, Flandi crafts and Artisans of Madras State.

Whabi Movement In India with special Reference of Punjab Regions

Manish Kumar

Research Scholar, Dept. of History, Himachal Pradesh University, Shimla

Abstract:- Many movements sprang-up in India which were political, social, religious and cultural in nature. There were wider impact of all these movement that wanted to restore Muslims rule in India. Abdul Wahab (of Nejd) started this movement in order to remove tribalism from Arabian world. When it was sarted by Syed Ahmed Breillvy there were two main centres of *Wahabis*-Patna and Panipat where Muslims youths were recruited for against Sikhs in the first phase and later on, against the British. Syed Ahmed forget matrimonial alliance with tribal leaders residing on the boundary of North-West Frontiers Province. Many campaigns were made against Maharaja Ranjit Singh, ruler of Punjab and the British. Delhi, Thanesar, Ambala, Pehowa and Panipat welcome their centres of recruitment. In 1831, main leader of this movement Syed Ahmed was killed in the battle of Balakot. This movement ultimately failed as it failed to get the help of the Hindus. This movementgave an opportunity to the British create gulf between Hindu and Muslims so that both of these communities could not unite them in future. This movement was bascally resposnsible for the creation of separatist tendencies in Indian society.

Words:- Renaissance, Reformation, intellectual expression, socio-cultural transfermotion, Sunnis, Shias, Pindaris, Gurellia, chief organizer.

The 19th century India witnessed a great upheaval in political, social, religious and cultural fields. In the real sense, this period can be termed as a period of renaissance in Indian history when all the regions of India were under the influence of such forces which laid great stress on the overall transformation in all walks of life. The twin movements of the Western World i.e. Renaissance and Reformation broke the old established order, propounded new concepts, theories, ideas, shook papal dominance and heightened the urge to set-up a national standard of faith in Europe.[1] It, undoubtedly, gave birth to 'new theological doctrines' which immensely facilitated the growth of secular state.[2]

As already stated that the period of late half of the 19th century was the period of socio-cultural-religious awakening and the emergence of 'new spirit' in all walks of life[3] These movements which emerged in India were regional in nature but had more or less identical character as their great stress was on the socio-religious- cultural reforms. Their cardinal motive was to uplift the society suffering from a long period. It would be quite true to say that these movements created multiple intellectual expression of the socio-cultural transformation. All such movements basically emerged on account of the impact of Western ideas and thought. Gradually emerging western educated classes also realized the imperative need of such reforms.[4]

Religion was the focal point of attack from all the corners. As far as the Haryana regions was concerned, many such movements emerged both in the Hindu and Muslim communities. Their major aims were to eradicate the social evils and vices, educate the masses and revive the old religious faiths which had disappeared earlier.[5] The Arya Samaj, Wahabi and Sanatam Dharam movements alongwith new education, literary and journalistic growth were instrumental in creating awakening in different regions of Haryana in general and Rohtak in particular. An attempt has been made to analyse all these aspects in proper historical perspective in this paper.

One notable exception was the armed rising of the Wahabis who were actively engaged in showing their activism long before the outbreak of the Revolt of 1857. It was indeed as one of the most significant politico-religious movements which emerged in the early decade of19th century and posed a serious challenge to the British *Raj.* It also denounced the prevalence of religious degeneration in the Muslim community and greatly pleaded the revival of simplicity of faith of the Prophet's Arabia and out rightly denounced "all accretions fo and declensions from the pure Islam".[6] In the beginning, this movement had religious orientation (puritan Islam) in order to abolish the tribalism in Arabia[7] but it soon transformed itself into a religious-political creed. Saiyid Ahmad of Rai Bareilly's (1786 – 1831) main contention behind the movement was to restore the Muslim power in the country. The target of this movement was both the Sikhs in the Punjab and the British in Bengal. Before Saiyid Ahmad, Abdul Aziz son of Shah Waliullah had already held the identical thinking in this regard.[8]

Abdul Wahab of Nejd (1707-87) was the real founder of this movement. But on the other side, Shah Waliullah's religious thinking was quire comprehensive, richer and more liberal with sufi-colour and made no distinction between the *Sunnis* and *Shiahs*. It profoundly believed in the pure Islam which must be re-enacted and regenerated. It was his contention that the Muslim society that lost the past glory must revive its power.[9]

If political situation is analysed, it can fairly be said that Sikh power in the Punjab and British in the Bengal had emerged. This movement had to fight against the internal decay and abuses prevalent in the society and resist and even fight against 'infidel rulers'. The leader of this movement in India was Saiyid Ahmad who had challenged Maharaja Ranjit, Sikh rulers of Punjab, and the British *Raj* later.[10]

Saiyid Ahmad, the founder of the Wahabi movement, was a man of humble origin and was a soldier in the service of Amir Khan, the Pindari, who became later on the ruler of Tonk (Rajasthan). He started preaching the doctrines of religious reforms during 1820-21 as was being done by the sect of Wahabis in Arabia. It is generally believed that he was greatly influenced by the Wahabi leader, Waliullah, in Arabia. He made strenuous efforts to revive the old values in his community through the means of threefold activities, "the exalation of the word of God, the revival of the spirit of faith in word and deed, and the practice of holy war."[11] During his visit to number of towns and cities, his activities were greatly appreciated. Before starting the *Jehad* or holy war, he

went to Mecca in 1822. He returned back to India in 1824 and was eages to have "a system by which they (his followers) affected one of the greatest revivals known to Indian History, and which has kept alive the spirit of revolt against the British rule during fifty years."[12]

His stay at Patna on his way to Calcutta, he was greatly welcomed by the people and on whose urge he deemed it necessary to found a regular organization. In order to give wider base to his movement, he appointed four *Khalifas* (spiritual vice-regents) – Vilayat Ali, his brother, Inayat Ali, Shah Muhammad Hussain and Farhat Hussain. All these religious leaders were men of multiple qualities as William Wilson Hunder, an ICS officer, has stated, "much of their teaching was faultless and it has been given to them to stir-up thousands of their countrymen to a purer and a truer conception of the Almightly."[13]

Two important events i.e. the death of Ranjit Singh and the first Anglo-Sikh War (1845-46) made the British master of the Punjab. Now the movement soon started assuming a political and military character against the colonial masters. The British created the Special Police Department to operate against them and by the armed expeditions on the Frontier. Between 1850 and 1863 around twenty expeditions were sent out consisting of 60,000 troops against the *Wahabis*.[14] When the military operations failed, the campaign of police action, followed by judicial prosecutions, was speeded up.[15]

In this campaign, 114 military personnel were killed and many officers wounded. *Wahabis* took another British picket in which British General was wounded. It became a terrible situation for the British and more troops were needed. General Havock alongwith 9000 soldiers took over the command. He defeated the *Wahabis* at Laloo and Bonair hills. The British with diplomatic tactics broke the alliance between the tribal groups and the *Wahabis*. The British army burnt down a large area of Maluka village and its surrounding areas.[16]

Saiyid was unhappy at the turn of events which took place in Calcutta and how trading Company had occupied a large part of India for their economic benefits. So he had fully realized that it was a group of 'British traders' who posed a main threat to India's independence and an all-out effort was greatly needed to drive them out. He wanted to seek the help of the Indian rulers in his endeavor as he explicitly wrote that the time had come when unfriendly foreigners of a distant land who have become masters of the country sent out of India.[17] He wrote many such pamphlets in which he urged upon them to unite as one body and waged a holy war against them for the conquest of India. He knew it well that both pen and sword were necessary for his crusads. He showed eagerness to train his followers in the use of arms and ammunition. For this, he distributed military kit to each of his soliders and held military parade regularly. He chose North-West Frontier Provice hilly areas where many tribal communities efficient in gurellia warfare tactics had already been residing. He alongwith the Patna group of Maulvis visited in order to enlist support of the tribes in their crusade against the Sikh rule in Punjab.[18]

Now the question arises : why did he want to overthrow the Sikh rule in the Punjab? He called the Sikh rulers as oppressors' who had butchered

thousands of Muslims and forbade them to prayer from mosques and the killing of cows.' He was confident for capturing Peshawar and minting coins in his own name. But no cordiality could take place between his followers and Pathan's followers of the tribal areas ultimately resulting into mass killing of his followers by the Pathans. Consequently, Peshawar was recaptured by the Sikhs and their leader, Saiyid Ahmad, was himself killed in the battle of Balakot in 1831.[19] Thus the death of Saiyid Ahmad was, however, a great blow to the *Wahabi* movement but the Patna leaders did not loose heart and kept the movement alive in a more vigorous way for few more years. Vilayat Ali who wanted to keep the morale high of his followers declared that Saiyed Ahmad was not killed but had only disappeared and would appear again at the proper time to lead the movement again for the victory.[20]

Now the colonial government thought immediately to strike at the root of the movement which was assisted by men and money from different centres. Correspondence and other documents were seized and trials began at Ambala in which many leaders were sentenced to death and others for life imprisonment. During these state–trials, a number of centres working against the British came to notice. Robert Montgomery, Judicial Commissioner of the Punjab, reported that the Muslims of Patna and Thanesar were in correspondence with 64 Native Infantry near Peshawar and urged it to revolt.[21] It is important to tell here that Haryana region was one of the major centres of their activities. Some of the Muslim *zamindars* also joined it. The important centres of the movement were Delhi, Thanesar, Ambala, Pehowa and Panipat.[22]

The leaders of Haryana who were active in the movement were Maulvi Muhammad Qasim of Panipat, Husaini of Thanesar, Muhammed Jafar of Thanesar and Muhammed Shafi of Ambala, a contrctor for the supply of meat to European army in many cantonments such as Ambala, Naushera etc. Muhammed Qasim, the closest associates of Syed Ahmad, went to Sithana, the headquarters of the North-West Frontier Province and worked with the tribal chief, Syed Akbar Shah. Many inspiring letters were exchanged between Syed Akbar Shah Maulvis Wilayat Ali and Inayat Ali, the leaders of the Patna centre. Muhammad Jafar alias Peeroo Khan, who was a disciple of Wilayat Ali of Patna was the incharge of the North-Western tribal region.[23]

It is believed that he was the incharge of all the activities of *Wahabis* in Haryana. The official documents testified that Thanesar was 'one of the main depots' and Jafar as "its Chief Organisers'. Muhammad Jafar belonged to a very poor family and by virtue of tactics, he became a *lambardar* of thanesar and helped the Wahabis against the British.He was the main source of inspiration to the youth whom British intelligence found out as the network of the organization in 1863-64 with the help of one Ghuzzan Khan, a Pathan police Sergeant at Chowki Panipat, Karnal District.[24] After getting all the informations and their involvement, all were arrested trailed at the office of Commissioner Ambala, Sir, Herbert Edwards in 1864. Inquiry was conducted into the activities of the Wahabis, they were found guilty for waging war against the Crown. Some leaders were sentences to life imprisonment while others sent to the

Andaman Islands. After the arrest of Muhammad Jafar, a prominent leader of the movement, virtually met its own doom after 1864. By 1888, it come to an end.[25]

The movement, however, failed but it left its many impacts. It was undoubtedly, the first planned and highly organized movement. Those who betrayed the movement were boycotted by their community. The Hindus kept aloof when the Wahabis directed their movement against the Sikh rulers. But when it became political and turned against the British, the Hindus showed some sympathy for it. In the given situation, it can't be treated as national movement. Only a few Hindus might have shown sympathy towards this movement while majority of the population kept aloof from it as it was purely a revival movement of the Muslims.[26]Dr. Rajendra Prasad who the first President of Indian Republic remarked that the earlier risings of the *Santhals*, the *Mundas* and the Wahabis were not "purely political movements for the freedom of the country.[27] They were occasional and inspired by religious considerations also. It was indeed a big movement of the *Wahabis* after the Revolt of 1857. In the given situation, This movement was basically for the revival of their community which could not succeed to establish the Muslim rule in India against the English and Sikhs as it was not liked by many other communities of India. In the long run, it became also responsible for the separatist tendencies in Indian society and continued to widen gulf between both the communities i.e. Hindus and the Muslims.[28] This movement paved way for a new type of politics which consequently came to be dominated by religious dogmas. It would be true to say that this movement kept alive the desire for freedom among the Muslims who had lost their empire at the hands of the British.[29]

References:-

1. Pollard, A.F., *The British Empire*, London, 1908, p. 39
2. Laski, H.J., *The Rise of European Liberalism*, London, 1937, p. 30
3. Bipan Chandra and others, *India's Struggle for Indepen-dence, pp.82-83*
4. *Ibid*
5. Majumdar, R.C. (ed.) *British Paramountcy and Indian Renaissance,* Part I, Bombay, 1963, p. 881.
6. Ali, Ameer, *The Spirit of Islam*, p. 357.
7. O' Malley, L.S.S. (ed.) *Modern India and the West*, Oxford, 1968, p. 396.
8. Hussain, Yusuf, *Glimpses of Medieval Indian Culture,* pp 62-63.
9. *Ibid* pp. 395-96.
10. Nizami, Khaliq Ahmad, 'Shah Waliullah Dehlavi and Indian Politics in the 18th Century' *Islamic Culture*, 1951, p. 133.
11. Tara Chand, *History of the Freedom Movement in India,* Vol. II, Delhi, 1967, p.23.
12. Hunter, W.W., *The Indian Musalmans,* Calcutta, 1876, pp 61-62.
13. *Ibid.,* p. 68
14. Majumdar, R.C., *History of the Freedom Movement in India,* Vol. I, p. 251.
15. *Ibid.*
16. Hunter, *op.cit.,* p. 35
17. Mehr, Ghulam Rasul, *Jamiat-i-Mujahidin*, p. 13.

18. Hunter, *op.cit.*, p. 14.
19. Majumdar, *op.cit.*, p. 888
20. *Ibid.,* p. 889
21. *Journal of Indian History* (Trivandrum, Kerala) Vol. I, Pt. II August, 1972, p. 149 and 346.
22. Bisheshwar Prasad (ed.) *Ideas in History*, Delhi, 1968, pp 93-109.
23. Tara Chand, *op.cit.,* p. 27
24. Quyamuddin Ahmad, *The Wahabi Movement in India,* Calcutta, 1966, p. 233.
25. Muztar, B.K., *Kurukshetra : Political and Cultural History*, p. 97
26. Tara Chand, *op. cit.,* Vol. II, p. 30
27. Datta, Dr. K.K., *History of Freedom Movement in Bihar,* Vol. I, pp 2-4.
28. Tara Chand, *op. cit.,* Vol. II, p. 30
29. *Ibid.*

Buddhist Monasteries in Bhutan

Dr. Shekhar Singh

Guest Faculty, Department of History,
Ramanujam College, University of Delhi

Chagri Monastery

Chagri Dorjeden Monastery also called "Cheri Monastery" is a Buddhist monastery in Bhutan established in 1620, by Zhabdrung Ngawang Namgyal the founder of the Butanese state. The monastery, which is now a major teaching and retreat centre of the Southern Drukpa Kagyu order, is located at the northern end of Thimphu Valley about fifteen kilometres from the capital. It sits on a hill above the end of the road at Dodeyna and it takes about an hours walk up the steep hill to reach the monastery from there. According to Bhutanese religious histories, the place was first visited by Padmasambhava in the 8th century. In the 13th century it was visited by Phajo Drugom Zhigpo the Tibetan Lama who first established the Drukpa Kagyu tradition in Bhutan. Chagri Dorjeden was the first monastery established in Bhutan by Zhabdrung Ngawang Namgyal in 1620 when he was 27 years old. Zhabdrung spent three years in strict retreat at Chagri and resided there for many periods throughout the rest of his life. It was at Chagri in 1623 that he established the first Drukpa Kagyu monastic order in Bhutan.

Chimi Lhakhang

Chimi Lhakhang, also known as Chime Lhakhang or Monastery or temple, is a Buddhist monastery in Chukha District, Bhutan. Located near Lobeysa, it stands on a round hillock and was built in 1499 by the 14th Drukpa hierarch, Ngawang Choegyel, after the site was blessed by the "Divine Madman" the maverick saint Drukpa Kinley (1455–1529) who built a chorten on the site.

In founding the site it is said that Lama Kunley subdued a demon of Dochu La with his "magic thunderbolt of wisdom" and trapped it in a rock at the location close to where the chorten now stands. He was known as the "Mad Saint" or "Divine Madman" for his unorthodox ways of teaching Buddhism by singing, humour and outrageous behaviour, which amounted to being bizarre, shocking and with sexual overtones. He is also the saint who advocated the use of phallus symbols as paintings on walls and as flying carved wooden phalluses on house tops at four corners of the eves. The monastery is the repository of the original wooden symbol of phallus that Kunley brought from Tibet. This wooden phallus is decorated with a silver handle and is used to bless people who visit the monastery on pilgrimage, particularly women seeking blessings to beget children. The tradition at the monastery is to strike female pilgrims on the head with a 10 inch (25 cm) wooden phallus (erect penis). Traditionally symbols of

an erect penis in Bhutan have been intended to drive away the evil eye and malicious gossip.

History

The often mentioned origin of the symbolic phallus seen in the Chimi Monastery is as a legacy of the popular Bhutanese saint Lama Drukpa Kunley (1455–1529). Kunley migrated from Tibet, was trained in Ralung Monastery in Tibet, and belonged to the period of Pema Lingpa and was his disciple. He was a crazy saint who extensively travelled in Bhutan, who was fond of women and wine, and adopted blasphemous and unorthodox ways of teaching Buddhism. His sexual exploits included his hosts and promoters. He was utterly devoid of all social conventions and called himself the "Madman from Kyishodruk." His intention was to shock the clergy who were uppity and prudish in their behaviour and teachings of Buddhism. However, his ways appealed to the common man. It was he who propagated the legend of painting phalluses on walls and flying hanging phalluses from roof tops of houses to drive away evil spirits and subdue demonesses. The mad saint lived in a place known as Lobesa, close to the present day Chimi Lhakhang monastery, to drive away demonesses and protect the local people. According to the legend, he used to hit the evil forces with his penis (or cohabited with them) and turn them into protective deities.

He is also called the "fertility saint", as the Chime Lakhang monastery he built is visited by not only Bhutanese women but also people from the United States and Japan. Kunley's organ, as painted, is called the "Thunderbolt of Flaming Wisdom" as it unnerved demons and demonesses and subdued them. It is also said that he is "perhaps the only saint in the religions of the world who is almost exclusively identified with phallus and its creative power". It is for this reason that his phallus, as a symbol, is depicted in paintings on the walls of the houses, and he is shown in thangka paintings holding a "wooden stick with penis head". Given the penis theme, today the monastery is a pilgrimage site for infertile women. The monastery underwent restoration work in 1998-99.

Geography

The Lhakhang is located 10 kilometres (6.2 mi) from Punakha near a village called Sopsokha from where a 20 minutes walk along muddy and dusty path through agricultural fields of mustards and rice, leads to a hillock where the monastery and the chorten are situated. Prayer flags are lined all along the road from the tiny village hamlet known as Yowakha, along a drain or stream to the monastery. All houses in the village have paintings of phalluses on their exterior walls. The lama Kunley had called the hillock where the monastery exists as the breast of a woman because of its round shape.

Structure and Traditions

The Lhakhang is of modest size, square in shape with a golden spire. It is a golden yellow roofed building. It has a row of prayer wheels and its exterior walls are embedded with slates carved with images of saints. Near the entrance

to the Lakhang, there is this small chorten which marks the location where the demoness was subdued by Lama Kunley. The prayer hall in side the monastery has tantric paraphernalia, thangkas, bells, drums, horns, *dorjis* and a *kangd*. The statue of Kunley, in a monk's robe, is centrally located at the altar here, in a reclining position with a ceramic statue of his dog Sachi. Images of Zhabdrung, Sakyamuni Buddha and Chenresig are also deified in the monastery. Women who come to the monastery seeking blessings of children by getting hit on the head by the presiding Lama with 10 inches (25 cm) ivory, wood and bone phallus and to also get the name of the child to be born chosen by picking bamboo slips placed in the altar inscribed with names of boys and girls. It is also said that the small chorten at the altar was made by Kunley himself. There are also frescoes painted on the walls of the monastery depicting the Mad saint's colourful life.

Legend

There are several legends and anecdotes connected with the Lakhang and Drukpa Kunley. According to one legend Kunley, who was also known for his supernatural powers had predicted the death of other lamas, which came true. However, Lama Kunley and his dog Sachi, whose statues are deified in the monastery attained heaven.

A peculiar incident has been reported by a lady who visited the monastery with a local guide. She wanted to take a picture of the guide near a linden tree, also known as the Buddha tree. Before she could click her camera she saw a young person looking like a monk near the tree behind her guide and who stared at her intently with " piercing eyes" and a smirk on his face as if telling her not to take the picture. When she moved her eyes away from the camera there was no body besides her guide. It was believed to be an apparition of the Lama Kunley. She felt strange, turned pale and moved away from the area.

References

- Awasthi, J.D. : *Agricultural Development of Himalayas with Special Reference to Bhutan*, India: University of North Bengal, 1984.
- Barbara, Adams : *Traditional Textiles of Bhutan*, White Orchid, Bangkok, 1984.
- Cuong Tu. : *Zen in Medieval Vietnam: A Study and Translation of the Thien Uyen Tap Anh,* Honolulu, HI: University of Hawaii Press, 1998.
- Daniel, Cozort : *The Sand Mandala of Vajrabhairava,* Ithaca, NY: Snow Lion, 1996.
- Eden Ashley : *Political Missions to Bootan,* Manjusri Publishing, Delhi, 1972.
- Groner, Paul : *Ryogen and Mount Hiei: Japanese Tendai in the Tenth Century,* Honolulu, HI: University of Hawaii Press, 2002.
- Heissig, Walther : *The Religions of Mongolia,* Berkeley, CA: University of California Press, 1980.

Coins of the Mughal Era: Untold Dimensions

Dr. Jayveer Singh

Supervisor, Department of History, OPJS University, Churu, Rajasthan

Sujeet Prasad

Research Scholar, Department of History, OPJS University, Churu, Rajasthan

Abstract

Narratives surrounding the destruction of historical monuments, the fabrication of ancient tales, and the alteration of genealogies to favor specific rulers have gained considerable credibility in contemporary discourse. A significant portion of our historical record has been obscured or erased due to the manipulation of artifacts and sources over time. Nevertheless, inspired by the words of William Ernest Henley, "Under the bludgeoning of chance, my head is bloody, but unbowed," we can rely on certain sources to navigate the complexities of our past. Coins represent one such source; akin to the poem "Invictus," they have withstood the trials of time and change. Despite being minted by victorious rulers, the coins of their contemporaries have retained their intrinsic value. Regardless of the period or century, coins will perpetually serve as a vital resource for understanding our history. The significance is particularly pronounced when considering Mughal coins, and an exploration of archival materials is likely to enhance their historical importance. Much like a kaleidoscope that reveals various perspectives, this paper aims to uncover new dimensions within this enduring subject and to illuminate the relevance of Mughal coins in the 21st century.

Keywords: Coin, Mughal

Introduction

The year A.H. 936 (Anno Hegirae) marked a significant turning point in the numismatic studies of our nation. It was during this year that Babur established the first Mughal mint in Agra. Consequently, Mughal coins became deeply embedded in the cultural fabric of the Saptasindhu region, influencing the lives of its inhabitants. Over the past two centuries, extensive research on Mughal coins has allowed us to unravel the complexities of Mughal history in an unparalleled manner. This paper aims to explore the various aspects and dynamics of these coins in greater depth. A comprehensive examination of these coins, along with the factors that influenced their creation, provides valuable insights into the society, politics, and economy of the medieval period. Do these coins solely reflect economic conditions, or do they conceal narratives that remain to be uncovered? Can the edges of the Mohur convey meanings that the weight of the Shihansha cannot? Given the extensive nature of this subject, particular emphasis will be placed on lesser-known collections and comparisons among notable rulers.

The coins issued by Babur, Akbar, Shah Jahan, and Jahangir represent a significant period in India's history, characterized by rich archaeological findings and a robust economy. Therefore, it is essential to delve into the intricacies of the minted coins. Unlike living beings that may lose their vitality, coins possess the unique ability to resurrect entities once deemed obsolete. The Mughal coinage exemplified creativity and advancement in both design and minting techniques. The artistic expression of Mughal coins reached its zenith during the reign of the illustrious Akbar, who introduced innovative features such as floral scrollwork in the background. It is difficult to envision the late medieval Indian economy without considering the Mughal reforms in administration, finance, and currency. The Mughal Empire successfully expanded its authority and influence beyond that of its predecessors in these domains. However, it is important to note that Mughal dominance in political and economic matters was never absolute; the Mughal state was always shaped by a series of compromises between imperial ambitions and the inherent challenges posed by the Indian context.[1]

Coins Of The Mughal Era

"To articulate the most complex issues with clarity and intelligence is akin to minting coins from pure gold." - Emanuel Geibel.[2]

1. Babur

In 1483, Zahir-ud-Din Muhammad, known as Babur (meaning "tiger" in Persian), was born into royalty in Ferghana, which is now part of Uzbekistan. He was a descendant of Timur ("Tamerlane") through his paternal lineage and of Jenghiz Khan through his maternal lineage. Despite his illustrious ancestry of warrior kings, the ability to generate revenue is not an inherent trait. Nevertheless, Babur played a crucial role in establishing the Mughal economy and its coinage.

Babur ascended to the throne of Ferghana at the tender age of 12. A few years later, he captured the renowned Central Asian trade hub of Samarkand, only to subsequently lose it, along with his nascent empire, to more formidable adversaries. His autobiography, the Baburnama, provides a wealth of information about his life and experiences.

It is believed that Babur's earliest coins were minted in Afghanistan, known as Mithqal or Ashrafi. This gold coin, dated around 1523 CE, holds significant value, as evidenced by its sale for over $120,000 USD at a Swiss auction. His daughter, Gulbadan Begum, recounts the creation of the heaviest recorded gold coin. Following the battle of Panipat, Babur had a gold coin minted that weighed "three imperial sers, equivalent to 15 sers of Hind," which he presented as a gift to his court jester, Asas, who remained in Kabul. According to her memoirs, Asas was elated upon receiving the Ashrafi, exclaiming in delight, "No one shall take away this Ashrafi from me." Gulbadan Begum concludes her account with the emphatic statement, "No one!"[3] His coins were modeled after the coinage prevalent in Kabul during that period. The Babur coins, typically characterized by their thin and flat design, exhibit notable features. In India, silver coins known as Shahrukhi were minted during Babur's reign, named in honor of the Central Asian ruler Shah Rukh. These Shahrukhis were distinguished by their thin, broad flanges, prominently displaying the Sunni Kalima at the center, surrounded by the names of the first four caliphs on the obverse side. The reverse featured the king's Islamic name and titles, along

with the date according to the Hijri calendar and the name of the minting town. The mint names on the reverse provide valuable insights into the geographical extent of each ruler's influence. Following Babur's arrival, Indian coinage experienced significant transformation. Notably, pictorial elements largely disappeared from Indian coins, making way for inscriptions that included the king's name and titles, the Hijri date, and the mint location, marking a new era in Indian currency.

Kalima, representing the Declaration of Faith in Islam, emerged as a notable feature during the period of the Caliphs in Syria. Its significance, however, was amplified under Mughal governance, leading to its adoption by various independent rulers. Notably, some research papers indicate the impact of Hinduism on these coins as well. Earlier rulers found it essential to incorporate certain Hindu elements, as a drastic departure from tradition could have resulted in economic instability. The inclusion of the Nagri script and the Sanskrit translation of Kalima was crucial for ensuring the coins' broader acceptance among all subjects.

A coin that is spinning and remains upright on its edge has the potential to topple in either direction. [4]

2. Humayun

In contrast to his father, Humayun lacked the advantage of comprehending the administrative and economic intricacies during his rule. Upon ascending to the throne, he encountered significant internal strife and was compelled to flee India following a disgraceful defeat at the hands of the Afghan warlord, Sher Shah Sur. Nevertheless, Humayun reclaimed his throne in 1555 and discovered a robust economic framework established by Sher Shah Sur.

The Suri Empire introduced several coins, including the gold mohur, the silver rupaiyya, and the copper dam or paisa. The mohur was valued at 15 rupees, while one rupee was equivalent to 46 daam, although the market values of gold, silver, and copper were subject to fluctuations. Historical accounts from Persia indicate that Humayun was encouraged to adopt the Shia faith. Consequently, some of the later coins minted by the Mughal in Kandahar acknowledged Shah Tahmasp as their sovereign and featured the Shia Kalima.[5]

While the coins do not display the names of the mints, it is understood that Humayun operated mints in Agra and Lahore. The Shahrukhi was a lightweight silver coin weighing 4/5 grams, but a rarer variant weighing 9 grams was also produced by Humayun in the eastern region of Bengal.

3. Akbar

"His majesty is weighed twice a year for reasons of auspiciousness and as an opportunity to distribute gifts to the needy. Various artifacts are placed in the scales." - Abul Fazl, Ain-i-Akbari.[6] Drawing from Abul Fazl's observations, it is evident that Akbar was an exceptional ruler. Numerous historians have praised him for valid reasons. Additionally, Akbar deserves recognition for his coinage. In contrast to his peers, Akbar's coins reflect a spirit of secularism. Many of his coins prominently feature the Swastika, a symbol associated with Hinduism, alongside the inscription "Kalima." Furthermore, gold half mohurs were minted depicting the figures of Rama and Sita. Akbar appointed Moulana Ali Ahmed, a highly skilled engraver, to oversee the minting of his coins, demonstrating his personal involvement in this aspect of governance. The Jaljalal type coins issued by Akbar bore ilahi dates, and many also indicated the Persian

month of issuance. Experts estimate that Akbar may have produced nearly ten thousand distinct types of coins, some crafted using handmade dies. The designs suggest that a specific calligrapher and die-makers from a particular region were likely responsible for the minting of these coins.

Symbols on Coins of Akbar

The symbolism present in Akbar's coinage is a significant feature, particularly noted for its representation of various animals. A gold mohur minted in Agra and a rupee from the Berar mint prominently displayed a duck on their obverse sides. Additionally, a commemorative coin featured a hawk, which was produced following the conquest of Fort Asirgarh. The Kalpi type coins showcased a fish, while those from the Hazrat Delhi Mint depicted a tortoise. Furthermore, one of the rupees from the Hissar Firooza mint displayed the Surya and the Trishul.

Gold Coins of Akbar

During Akbar's reign, gold coins reached their peak, being issued in various weights and denominations. The Sihansah was the heaviest, equivalent to one hundred and one lal jalali mohurs or one thousand rupees. Other smaller denominations included Aftabi, Atma binsat, chagul, lal jalali, ilahi, rahas, and Adl gutka, with numerous auctions worldwide claiming significant value for these coins.

The Kalima series of coins was minted from the outset, featuring the "Kalima" on the obverse, flanked by the four caliphs. The reverse displayed the ruler's name and title, accompanied by a sacred wish and the mint date. A notable change occurred in the thirty-first year of Akbar's reign, when the Ilahi creed inscription "Allah-hu-akbar jaljallalah" replaced the Kalima series. Recently, five gold mohur coins from Akbar, weighing approximately 53.9 grams, were auctioned. In AH 985, Akbar proposed the introduction of square-shaped coins, a concept that took considerable time to realize. With the exception of the uniquely shaped mehrab coins, all other coins were circular.[7]

Silver Coins of Akbar

Humayun emulated Babur's approach regarding silver coinage. He issued silver coins known as Shahrukhis, which weighed four grams, alongside copper coins that ranged from eight to nine grams. The rupaiya silver coin was introduced by Sher Shah Suri, who also created a new copper coin called the Dam. This Dam coin was subsequently adopted by Humayun, Akbar, and other Mughal rulers. Upon assuming power, Humayun maintained the coinage system established by Sher Shah Suri.

In contrast to gold coins that were minted later, silver coins were produced from the early years of Akbar's rule. Historical records indicate that Akbar's earliest silver coins were minted in the year AH 962. Additionally, square-shaped silver coins were issued in AH 985.

The silver rupee was subdivided into smaller denominations, including a half rupee (Darb), a quarter rupee (Charn), and a twentieth rupee (Suki), which weighed approximately 0.45 grams. The obverse of Akbar's Ilahi silver coins featured the inscription "Allahu Akbar" at the top and "Jale Jalaluhu" at the bottom. Notably, two distinct silver rupees were minted in AH 987 from the mints of Ahmedabad, Tandah, and Lahore, which instead of "Allahu Akbar," displayed the phrase "Akbar-u-Allah." This was an attempt by Akbar to gauge

societal reactions and to associate his image with divinity. He deliberately chose not to issue these coins from the capital city of Fatehpur to avoid potential backlash from conservative factions.

Copper Coins of Akbar

Upon ascending to the throne, Akbar was a youthful ruler, with Bairam Khan overseeing the administration. While silver coins garnered significant attention, the local populace began to adapt copper coins to bear Akbar's name. In the last two decades of his reign, Hijri dates were supplanted by Ilahi years. The initial copper coins minted during Akbar's rule were similar to those produced under Humayun. The obverse side displayed the mint's name alongside the term 'Falus,' which translates to money. The denominations "Tanka Akbar Shahi" and "Neem tanka Akbar Shahi" served as equivalents to the Falus (half tanka).[8] Subsequently, the copper dam was introduced, aligning with Akbar's weight system. The Akbar dam weighed twenty grams and was valued at forty per rupee. The Akbari weight unit, known as "Ser," was established at 30 dams. The fractional units of currency included Adhelah, Paulah, and Damri. Additionally, the copper coins issued during Akbar's reign prominently featured the 'Swastika Symbol.'

In comparison to other Mughal emperors, this remarkable ruler's coinage is regarded as exceptionally innovative and artistic. Many of these coins are sought after by collectors globally. Akbar minted a series of coins at the Agra mint, which feature denominational terms in their inscriptions. The denominations of one, half, and quarter rupees are referred to as 'Rupaya,' 'Darb,' and 'Charan,' respectively. Abul Fazl, in his detailed account of Akbar's realm and administration, Ain-e-Akbari, has confirmed these terms. This documentation represents the earliest known reference to the term 'Rupaya' on a coin, making the series historically significant and providing a numismatic context for the denomination. The Rupaiya evolved into the 'international currency' of the Indian Ocean region and is currently recognized as India's national coin denomination.

Additionally, a coin featuring the term 'Rupaya' is part of the Ashmolean Museum collection, dated to Khurdad 47. However, a coin was found that predates this by one month—Ardibihisht being the month preceding Khurdad—thus establishing it as the earliest instance of the term 'Rupaiya' on a coin. In the legend of Khurdad, Shahrewar, and Di, all coins with the term 'Rupaya' are listed in the final line, beneath the mint name. In contrast, this particular coin displays the term at the top, which enhances its significance.

4. Jehangir

Following Akbar's reign, the Mughal Empire likely emerged as the wealthiest in the world. Harsha Bhogle once remarked about an individual, stating, "He is almost a different entity, lost in his own perfection."[9] In a similar vein, Jehangir presents a fascinating contrast within the history of Mughal coinage, making his coins among the most coveted and renowned. These coins were so distinctive and controversial that they were often overlooked due to societal biases. Jehangir's coins are celebrated for evoking a romantic allure in the field of numismatics, as illustrated by the following examples.

Portrait Type Coins

The artistic representation of 'living beings' is traditionally deemed inappropriate in orthodox Islam. Since the era of Qutubuddin Aibak, Islamic rulers in India exclusively employed calligraphic designs on their currency. However, Jahangir broke this tradition by introducing 'portrait' coins, thus becoming the first Islamic emperor to do so. Shortly after the death of his father, Akbar, in November 1605, he issued coins featuring Akbar's likeness, even prior to his own coronation. Subsequently, much to the dismay of conservative Islamic clerics, between 1611 and 1614 CE, he minted coins that displayed his own portrait, a daring act for that period. Various styles of portrait coins existed; some depicted Jahangir resting his hand on a balcony, while others illustrated him holding a cup of flowers. Additionally, he is portrayed seated cross-legged on a throne with a lion depicted on the reverse side. Notably, these coins were not intended for commercial circulation but were distributed as commemorative pieces by Jehangir.

1. Shah Jahan is often celebrated by historians as a symbol of love and is renowned for numerous positive contributions throughout history. Following a tumultuous struggle for succession, Prince Khurram, who later became known as Emperor Shah Jahan, ascended to the throne. The title Shah Jahan, which translates to 'King of the World,' was self-assumed by Prince Khurram. His artistic vision and innovative ideas earned him a distinguished reputation as a master artist.

Upon his accession, Shah Jahan promptly prohibited the circulation of coins that featured the name of Nurjahan or depicted zodiac symbols, imposing the death penalty for violations. Consequently, these coins were melted down and returned to the mint, rendering them exceedingly rare. Shah Jahan adhered to the customary practice of incorporating the Kalima, inscribing it within a circle or square. In addition to producing a variety of gold and silver coins in both square and octagonal forms, he also issued special Nisar and half Nisar coins intended for presentation. In accordance with religious prohibitions against idolatry, Shah Jahan employed calligraphy to adorn his coins, elegantly inscribing religious sentiments alongside his name and title in a meticulous manner. The beauty of Persian calligraphy continues to captivate audiences to this day.

A particularly noteworthy coin minted by Shah Jahan in the Balkh region was only unearthed in the 1990s, providing confirmation of his military campaign in that area. Following his imprisonment by Aurangzeb, who subsequently seized the throne and adopted the title of Alamgir, Shah Jahan's legacy continued to influence coinage. Aurangzeb, a staunch advocate of Islam, chose not to feature the Kalima on the obverse of his coins due to concerns over their sanctity.[10] Instead, he inscribed his title along with the mint's name, the year, and a couplet on the reverse. New mints were established in Bijapur, Ahmednagar, and Solapur, where he produced gold and silver coins, while the square-shaped coins of Shah Jahan and the silver Nisar coins remained in circulation.

Conclusion

This paper commenced with a line from William Earnest Henley's poem, and in adherence to the principle of circularity, it is fitting to conclude in a similar manner. The significance of coins in the study of history has been

thoroughly examined by numerous historians, scholars, and numismatic specialists. As learners of history and architects of the future, it is essential for us to comprehend the motivations behind certain actions that have shaped the vibrant history of our nation. Each coin possesses a narrative, and it is our responsibility to interpret the most pertinent stories. This research leads to the conclusion that Mughal coins serve as reflections of a ruler's perspective and the stability of the empire. Through the analysis of Mughal coins, we can also infer the state's philosophy and the ideologies it upheld. The Kalima has emerged as a vital source of insight, facilitating the formulation of groundbreaking hypotheses. However, caution is warranted when evaluating certain coins, as these sources may often present a singular viewpoint and require additional dimensions for comprehensive understanding. Mughal coins have withstood the test of time and have subtly influenced our contemporary currency system. Although symbolism is not a predominant feature of Indian currency, the underlying value system and nomenclature have secured a lasting presence within this framework. Beyond the coins themselves, the conditions of mints pose a distinct set of intriguing inquiries. The methods of casting, die production, and melting techniques also illuminate the technological advancements of the Mughal period. This era is recognized in history as one of the most prosperous phases of Indian history, and the coins aptly reflect that legacy. It is inconceivable to envision the circulation of impure gold coins in contemporary times; however, the illustrious Mughal rulers adeptly maintained a robust economy without jeopardizing the state treasury. This period represents a significant golden era in India's history, and these coins serve as compelling evidence of that prosperity. The Government of India should implement new initiatives aimed at conserving these rare coins and safeguarding them for future generations. Regardless of the age of these coins, the passage of time will not diminish their significance.

References

[1] Wright, N. (1908) Catalogue of the Coins in the Indian Museum Calcutta (vol.3), Mughal Emperors of India, Oxford Clarendon Press.

[2] Beveridge, A (1922) (translator). The Babur-nama in English (Memoirs of Babur). London

[3] Paliwal, A. (2002). CURRENCY AND EXCHANGE IN MUGHAL SIND. Proceedings of the Indian History Congress, 63, 353-358.

[4] Lane Poole, S.(1892) Catalogue of Coins of the Mughal Emperors of Hindustan in British Museum, London.

[5] Hodivala, S. (1923) Historical Studies in Mughal Numismatics, Calcutta.

[6] Dames, M. (1902). SOME COINS OF THE MUGHAL EMPERORS. The Numismatic Chronicle and Journal of the Numismatic Society.

[7] Chakraborty, S. (1939). SOME HINDU ELEMENTS IN MUSLIM COINAGE OF INDIA. Proceedings of the Indian History Congress.

[8] Tandon, P. (2010) "Fifty Coins in 2500 Years: A Numismatic Walk Through Indian History – Part II".

[9] Bhandare, S. (2015) "Numismatic Reflections on Shahjahan's Balkh Campaign - 1646-47" to appear in Numismatic Digest, Vol. 39

[10] Strnad, J. (2001) Monetary History of Mughal India as reflected in silver coin hoards Smith, V. (1906), Catalogue of the Coins in the Indian Museum, Calcutta (Vol 1), Oxford

Refurbishing Indian Politics: Power to the States for Survival of the Centre

Dr. Kumkum Narayan

Senior Lecturer, Department of Political Science,
Ganga Devi Mahila College, Patna

Democracy and Distributive Politics in India

To most theorists of democracy in the West, India is an embarrassing anomaly and hence largely avoided. By most theoretical stipulations India should not have survived as a democracy: it's too poor, its citizens largely rural and uneducated, its civic institutions rather weak. It is a paradox even for those who believe in a positive relationship between economic equality or social homogeneity and democracy: its wealth inequality (say, in land distribution, and even more in education or human capital) is high — may be less than that of Latin America but higher than in east and southeast Asia, and its society is one of the most heterogeneous (in terms of ethnicity, language, caste and religion) in the world.

Yet this country, with the world's largest electorate (it is now larger than the electorate in North America, Western Europe, and Japan combined), keeps lumbering on decade after decade as a ramshackle, yet remarkably resilient, democratic polity. Of course, depending on the defining features of democracy the depth of Indian democracy may be rather limited. It is useful to keep a distinction between three general aspects of democracy: (a) one relates to some basic minimum civil and political rights enjoyed by citizens, (b) another to some procedures of accountability in day-to-day administration under some overarching constitutional rules of the game, and (c) to periodic exercises in electoral representativeness. These aspects are of varying strength in different parts of India. In general the performance in much of the country over the last half a century has been really impressive in terms of (c), some pitfalls and electoral malpractices notwithstanding. If uncertainty about the outcome of elections, giving the opposition some chance of winning office, is key to a polity's minimum democratic character, India comes off in flying colours, at least in the last three decades or so. If, however, you care as much or more about (a) and (b), India's performance has been somewhat mixed, satisfactory in some respects but not in others. Also, except in three or four states in India, all these aspects of democracy are weaker at the local village or municipality level than at the federal or provincial levels.

There are several ways in which the historical and social origins of democracy in India are sharply different from those in much of the West, and the indigenous political culture has fundamentally reshaped the processes of democracy. These differences are reflected in the current functioning of

democracy in India and its impact on distributive politics, making it somewhat difficult to fit the Indian case to the canonical cases in the usual theories of democracy. In the rest of this paper we point out some of these differences (as well as similarities) and spell out their effects, particularly in terms of economic reform, governance and distributive policies and transfers.

While in Europe democratic rights were won over continuous battles against aristocratic privileges and arbitrary powers of absolute monarchs, in India these battles were fought by a coalition of groups in an otherwise fractured society against the colonial masters. Even though part of the freedom struggle was associated with on-going social movements to win land rights for peasants against the landed oligarchy, the dominant theme was to fight colonialism. And in this fight, particularly under the leadership of Gandhi, disparate groups were forged together to fight a common external enemy, and this required strenuous methods of consensus-building and conflict management (rather than resolution) through co-opting dissent and selective buyouts. Long before Independence the Congress Party operated on consensual rather than majoritarian principles. The various methods of group bargaining and subsidies and 'reservations' for different social and economic categories that are common practice in India today can be traced to this earlier history. This has also meant that in India, unlike in much of the West, democracy has been reconciled with multiple layers of nationality, where a pan-Indian nationalism coexists with assertive regional nationalisms in the same citizenry.

Unlike in Western Europe democracy came to India before any substantial industrial transformation of a predominantly rural economy, and before literacy was widespread. This seriously influenced the modes of political organization and mobilization, the nature of political discourse and the individual's relation to the public sphere, and the excessive economic demands on the state. Democratic (and redistributive) aspirations of newly mobilized groups outstripped the surplus-generating capacity of the economy, demand overloads sometimes even short-circuiting the surplus generation process itself. In my book, Bardhan (1984[1998]) I had described the political equilibrium underlying a broad pattern of economic deadlock in India, which in spite of recent deregulations and liberalizations and the higher growth rates in the last two decades, has persisted in some basic features.

This is generated by the usual collective action problems for large and heterogeneous coalitions in pulling together in their long-run collective interest, yielding more easily to short-run particularistic compromises in the form of sharing the spoils of the system to the detriment of long-run public investment, particularly in improving India's creaking infrastructure (power, ports, railways, roads, irrigation, etc.), which acts as a severe bottleneck for private investment and growth. With national elections sometimes taking place before the usual five-year period (due to unstable political coalitions) and the state elections held on a rolling basis across states on a cycle disconnected with the national elections, at any given time some important election somewhere is never too far, preoccupying the minds of politicians with short-run expediencies, and the need for long-run commitments in policy gets shortchanged.

In catering to these short-run demands a large part of public resources get frittered away in the form of implicit or explicit subsidies, galloping amounts of what are called non-development expenditures (mainly salaries, pensions, and debt servicing), and largely politicized mismanagement of capital in the bloated public sector and over-regulation of the private sector. The fiscal deficit of the central and state governments taken together in 2003-4 was about 10 per cent of GDP (up from 7.5 per cent in 1980-81), while public investment declined from 8.4 per cent of GDP to 5.6 per cent in the same period. Except for some improvements in investment in highways and ports, public investment in infrastructure as a proportion of GDP has declined significantly, and the hopedfor private investment to fill the gap has not materialized (largely on account of anticipated political problems of recovery of user fees and tolls, and frequent political interventions in regulatory institutions).

The central government budgetary subsidies (explicit subsidies like those for food, fertilizer, petroleum and interest rate and implicit subsidies in the form of unrecovered costs of public provision of goods and services that are not public goods) as a proportion of the fiscal deficit of the central government amount to nearly 90 per cent. According to estimates by the National Institute of Public Finance and Policy two-thirds of these budgetary subsidies are what they call 'non-merit' (largely accruing to the relatively rich). Apart from their inequity, they are also inefficient. For example, a large part of the money lavished on subsidizing fertilizer, water and electricity would have been much better spent (in terms of both promoting agricultural growth and reducing environmental damage from the resultant over-extraction of groundwater and overuse of chemicals) instead in public investment in irrigation and watershed management. Yet the lobby of middle and large farmers is much too strong and very few politicians can or want to take them on. Even left political parties (which largely represent public-sector office workers and unionized industrial labour) find it easier to enter essentially 'logrolling' arrangements with them. These problems are, of course, familiar from pork-barrel politics in many democracies, but they are more acute in a country of such extreme heterogeneity reflected in a bewildering crisscross of interest alignments, and much less affordable at India's level of extreme poverty and appalling infrastructure. When the surplus generated in the system is small and the claimants on the public fisc are too many, the common pool problem is particularly severe.

The collective action problem has become more acute in the last three decades as more newly mobilized groups started asserting themselves, and as the massive country-wide organization of the Congress Party which used to coordinate transactional negotiations among different groups and leaders in different parts of the country fell into disarray. One reason of the decline of the Party is the erosion of the mechanisms of intra-party democracy since the 1970's, as a result of which the organizational channels of demand articulation and

conflict resolution got clogged. The lack of inner-party democracy in all major parties in India in recent years has led to a proliferation of small and regional parties, as ambitious politicians found it more difficult to rise through the usual channels and ladders inside a national party; they staked their claims from outside forming their own parties and strategically used their support for advancing their personal and regional or group agenda.

References

- Adeney, K.: *Coalition Politics and Hindu Nationalism*, Cambridge Univ Press, Delhi, 2002.
- Asha, K. : *Globalization, Democracy and Culture : Situating Gandhian Alternatives,* Jaipur, Pointer, 2002.
- Bhambhri, C.P. : *Indian Politics Since Independence*, Delhi, 1999.
- Chand Bandhu: *History of Indian National Congress, 1885-2002*, Kalpaz Publications, Delhi, 2003.
- Chopra, P. N.: *Towards Freedom*: *Documents on the Movement for Independence in India, 1937*, Delhi, Oxford UP, 1986.
- D Sundar Ram: *Federal System and Coalition Government in India : Conflicts and Consensus in Centre-State Relations*, Kanishka, Delhi, 2007.
- Das, Suranjan: *Communal Riots in Bengal, 1905-47*, UK, Oxford University South Asian Studies, 1991.
- Francis G.: *India's Revolution: Gandhi and the Quit India Movement*, Harvard UP, Cambridge, 1973.
- Gans, Herbert J. : *Democracy and the News*, Oxford University Press, New York, 2003.
- Granville, A.: *The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation*, Oxford, Clarendon Press, 1966.
- Gupta, P. S. : *Towards Freedom*, *Documents on the Movement for Independence in India,* Delhi: Oxford UP, 1997.
- Hoshiar Singh; P C Mathur and Pankaj Singh: *Coalition Governments and Good Governance*, Aalekh, Delhi, 2007.
- Hunt, R. N.: *The Theory and Practice of Communism*. London: Penguin, 1963.
- Ian Copland: *Hindu Nationalism and Governance*, Oxford University Press, Delhi, 2007.
- Iqbal Singh: *Indian National Congress: A Reconstruction*, Riverdale Company, Delhi, 1988.

The Stability of Multi-party Democracy in India

Dr. Jainendra Kumar Yadav

P.G. Department of Political Science,
SKM University, Dumka

For nearly six decades now democracy in India has appeared somewhat of an anomaly. India is a multinational, agrarian society with a rigid and hierarchical social structure. This existence in such a setting of periodic elections, constitutional government, and freedom of expression and association has posed an intellectual puzzle. In a world where most stable democracies have industrialized and capitalist economies, some observers have felt that India's democracy is either not genuine or that it is likely to falter soon. Democracy in India is understood better by examining India's modern political traditions. Colonialism was the crucible of India's democracy. Early manifestations of colonial influences included the democratic inclinations of Western-educated leaders like Nehru, internal democracy within the Congress-led nationalist movement, and the participation of Congressmen in elections and legislatures prior to independence.

Considering the fatality rate of democracies in post-colonial settings, the political traditions inherited from the colonial past are clearly not a sufficient explanation.

The democratic commitment of India's leaders since independence has also made a major contribution to the survival of democracy in India. Immediately after independence, India's democracy could be characterized as a "gift" of the elite to the masses. The leaders of India's independence movement are often accused of wrongly choosing democracy in 1947. In fact, they had little choice. Democracy was the only system that could possibly provide political cohesion in a society with little tradition of political centralism, dizzying social diversity, an independence movement built along participatory lines, and limited elections introduced only in the last three decades of British rule. A brief perusal of the interaction of the British Raj and Indian resistance to it during this crucial period reveals that conditions for the emergence of political parties were steadily growing. Partly under the impact of Utilitarianism, but mostly as a matter of expediency, the British had started experimenting with limited self-rule in issues of minor importance such as municipal administration by the 1880s. This formed part of the British strategy of ruling India with the help of Indian intermediaries, in this case, selected by very restricted electorate of urban, rich, and loyal subjects. The Indian National Congress was set up in 1885 by Sir Alan Octavian Hume, a retired British Civil servant, in order to present Indian interests to the British Crown in a systematic and organized manner. It soon became the leading voice

of the Indian middle classes, constantly clamouring for more jobs under the colonial government and for greater political participation.

The earliest evidence of electoral practice can be found in the 1882 Resolution on Local Self-Government and the 1892 Indian Councils Act, both with very limited voting qualifications (property franchise). The principle of direct elections was established with the 1919 Government of India Act, and was immediately applied to all levels of politics – from local to national. These provisions qualified between two and four per cent of the population as electors. In 1937, based on the Government of India Act of 1935, the literacy requirement was introduces and, even more important, for the first time Indian politicians had the opportunity to gain political power in provincial legislative bodies. On the eve of independence, India's established electorate amounted to about 40 million voters. The Constituent Assembly was still elected via restricted franchise in 1946, whereby only 14% of the population were entitled to vote – only 39% of whom exercised this right. On the contrary, the first general election (Lok Sabha) of independent India was held in 1951-1952 under universal adult franchise. During the five decades of independence, elections have increased in number and variety, and the average participation in Lok Sabha elections has risen to about 60% of eligible voters. Until now have 14 general elections to Look Sabha taken place, and voting turnout was always very high (since 60's always over 55%), which means that the awareness of political process in Indian society is also high.

In the first years after independence The Congress party held on to this authority and found in competitive elections an alternative means of generating legitimacy. The parameters of competitive politics in India were set during the early days after independence so that later, when a new generation of leaders, representing the upward mobile peasants from the backward classes, began to enter the political system in the 1960s, despite the change in the fortunes of individual political parties, the system as a whole survived the difficult generational change.

Earlier scholarship (Kothari 1970) had presented the Indian National Congress, bearing the legacy of the Freedom Movement, as the main founder of India's institutions. The puzzle of political stability despite the decline of the Congress Party is partly explained by the existence of a relatively fair and effective electoral process, which has become an agent of the creation of a stable and legitimate political order.

The specificity of Indian democracy lies rather in the fact that it exist at all – in direct contrast to the experiences that other "third world" societies with similar circumstances have had with democracy. The specificity of Indian democracy can also be seen in the fact that the end of Nehru's era and the predictable, stable majority of his party, which is largely equated with the independence movement on a national level, did not lead to the end of democracy.

With the important exception of the period of national emergency between 1975 and 1977 under Indira Gandhi, India has remained a representative democracy since its independence from British colonial rule in 1947. The process of democratization has gradually integrated previously marginalized social

groups and geographical areas into electoral politics. India's democratic political system has been the ultimate source of the state's legitimacy, the major avenue of group mobility, and the main ingredient in the glue that has kept the country together.

Parties Landscape of India and its Evolution

The constitution gave 170 millions of Indian citizens the right to elect their own Government in 1951-52. This opportunity for co-determination of political actions would have been without any impact if every voter were obligated to express his opinion individually, for the interests and opinions of the people vary according to their social position or origin. A unified action would be unthinkable if the diversity of society is not to be transformed into the unity of the State. In such a situation the necessity of parties become very much clear.

Parties in India are very often accused of creating artificial splits among the people and the disintegration of the society is to be traced to their existence. Such criticism ignores the fact that Indian society is, in any case, divided into many social, linguistic and religious groups. It is the function of the political parties to break and control the political consequences of these disintegrating tendencies. The party system began as a "one-dominant party system" with the Indian National Congress (INC) at the centre. This political system was commonly referred to as the Congress System (the INC has been in power during the periods of 1952-1977, 1980-1989, 1991-1996). From 1977 the system evolved towards a competitive multi-party system with parties along the whole left-right spectrum of politics.

The so called "dominant party system", that was a multiparty system, in which free competition among parties occurred but in which the Indian National Congress enjoyed a dominant position, both in terms of the number of seats that in held in Parliament in New Delhi and the state legislative assemblies, and in terms of its immense organizational strength outside the legislatures. It is extremely important that we recognize that Congress was dominant in both spheres.

References

- Kenneth C. Wheare: *Modern Constitutions*, New York, Oxford University Press, 1951.
- Moore, R.J.: *Crisis of Indian Unity, 1917-1940*, London, Oxford University Press, 1974.
- Noorani, A.G. : *Indian Political Trials : 1775-1947*, New Delhi, Oxford University Press, 2005.
- Prahlad K.: *Governance and Public Administration for Poverty Reduction*, Salvador, Brazil, 1997.
- R.P. Sinha and Surya Dandekar: *Asian Government and Politics: Studies in People, Power and Political Development*, Kanishka, Delhi, 1998.
- Shani, G.: *Communalism, Caste and Hindu Nationalism: The Violence in Gujarat*, Cambridge Univ Press, Delhi, 2003.
- Van der Veer, Peter: *Religious Nationalism: Hindus and Muslims in India*. Berkeley: University of California Press, 1994.

A Comparative Study of Adjustment Pattern of High and Low Achievers as Related to Their Academic Achievement

Dr. Shashi Kala Singh

University Dept. of Psychology, Ranchi University, Ranchi

Abstract

Effort has been made to examine the adjustment pattern of high academic achiever and low academic achiever. 150 school students (75 high achievers and 75 were low achievers) were administered Mohsin-Shamshad Adaptation of Bell Adjustment Inventory to examine whether the high and low achievers differ in terms of their adjustment patterns with regard to home, health, social and emotional areas. The result reveals that the high achievers have significantly better adjustment in comparison to low achiever.

Keyword: High and low achievers and adjustment

Introduction

The impact of the busy schedule and social change in the present scenario has caused a drastic change in youngsters and this is very much known to us. The change in the society is not only affecting one dimension but various dimensions and this has affected our education system to a large extent. Ever increasing load on studies, higher expectation of the parents towards their children's result, increasing level of competitive spirit, etc. has increased the level of stress on the youngsters, which becomes difficult for them to adjust in their environment.

The present scenario is dependent mostly on economic status and every person is in the race of earning more and more money to spend their lives with comfort and luxury. By the time the students reach the level of 10^{th} and 12^{th} they need to decide the stream in which they want to continue their studies or sometime such decisions are imposed by t**heir parents.** If the decision taken by the parents match with that of the child then it is acceptable, if not it will add to the tension and stress, thereby making it difficult for them to accept the decision being imposed and adjust accordingly.

The concept of adjustment was originally biological on and was concerned with adaptation to physical environment from survival. Adaptation to physical environment is of course a person's important concern. But he has also to adjust to social pressures and demands of socialization that are inherent in living inter-dependently with other persons.

One of the problems faced by the educational institutions is the maladjusted behavior shown by some students. It is not uncommon to find some students suffering from anxiety, stress, insecurity, mild depression and other related problems which affect their academic achievement. Some studies have been conducted to explore the effect of adjustment on scholastic performance. The general finding has been that scholastic achievement of students is adversely affected by psychological problems associated with adjustment (Ameerjan, 1983; De and Singh, 1970; Gupta, 1970; Mottoo, 1994; Miya and Krishna, 1996; Orpen, 1976; Sharma and Manju, 1993). De and Singh (1970) examined the role of home adjustment as a determinant of academic motivation. The sample for the study consisted of 220 students of class V111 and IX. The results showed that students with high academic motivation had better adjustment. Gupta (1970) compared high and low scholastic achievers on measures of adjustment and found that satisfactory adjustment boosted up scholastic, achievement while anxiety and depression had negative effect on scholastic achievement.Sinha (1966) found that high achievers tended to be more adjusted in the area of home, health and society. The low achievers were poorer with regard to intelligence and were more anxious and inferior in general adjustment .Mattoo (1994) compared high and low creative students on their level of adjustment, scholastic achievement and vocational interests. Results indicated that adjustment had an important role in creatively and scholastic achievement. Daulta (2008) studied the impact of home environment on the scholastic achievement of children. The study was conducted on a sample of 220 students drawn from Senior Secondary School of Panipat. Results showed that good quality of home environment had significant positive correlation with high level of scholastic achievement. This finding demonstrates that home adjustment affects scholastic achievement significantly. Chauhan, (2006) in his research work, observed that male rural student group was significantly lower than their urban counterparts on neuroticism.

Material and Methods

Sample

The sample of the proposed study will be selected from the Ranchi District. One hundred and fifty (150) school students studying in XI will be selected by a stratified random sampling technique.

The sample will be selected in two stages. In the first stage, three schools of Ranchi will be randomly selected. In the second stage, high academic achiever and low academic achiever will be identified from X1on the basis of marks obtained in class X Final Examination. The high academic achievers (75) will be those students who obtained 60% or more marks and low academic achiever (75) will be those, who had obtained below 45% marks.

Tools

1. Personal Data Questionnaire.
2. Mohsin Shamshed Adaptation of Bell's Adjustment Inventory (Hindi Form).

Result and Discussion

Comparison of High and Low Achievers in terms of Adjustment variables. (N=75 in each group).

***Table 1**: Comparison of Home Adjustment Scores of High and Low Academic Achievers.*

Variables	*Group*	*Mean*	*SD*	*t-Value*
High	9.46	4.79		
Home				2.21
	Low	11.36	4.63	

N.B. Significant at 0.05 level

The findings in table 1 are obvious that the mean of home adjustment scores of high achiever (9.46) is lower than the mean (11.36) of low achiever. The obtained t-ratio of 2.21 is significant at .05 level, indicating that both groups differ significantly in terms of their home adjustment.

***Table 2:** Comparison of Health Adjustment Scores of High and Low Academic Achievers.*

Variables	*Group*	*Mean*	*SD*	*t-Value*
	High	9.15	4.55	
Health				5.50
	Low	12.56	2.83	

N.B. Significant at 0.01 level.

Table 2. The high achievers has obtained a mean of health adjustment score (9.15) is lower than the mean (12.56) of low achievers. The obtained t-ratio of 5.50 is significant at .01 level, indicating that both groups differ significantly in terms of their health adjustment.

***Table 3:** Comparison of Social Adjustment Scores of High and Low Academic Achievers.*

Variables	*Group*	*Mean*	*SD*	*t-Value*
	High	9.56	4.97	
Social				3.88
	Low	13.56	7.45	

N.B. Significant at 0.01 level.

In table 3 the high achievers has obtained a mean of health adjustment score (9.56) is lower than the mean (13.56) 0f low achievers. The obtained t-ratio of 3.88 is significant at .01 level, indicating that both groups differ significantly in terms of their social adjustment.

***Table 4:** Comparison of Emotion Adjustment Scores of High and Low Academic Achievers.*

Variables	*Group*	*Mean*	*SD*	*t-Value*
	High	10 44	6.01	
Emotion				2.30
	Low	12.68	5.98	

NB: Significant at 0.05 level

In table 4 the high achievers has obtained a mean of emotion adjustment score (10.44) is lower than the mean (12.68) of low achievers. The obtained t-ratio of 2.30 is significant at .05 level, indicating that both groups differ significantly in terms of their emotional adjustment.

The findings presented reveal that the high achievers have scored lower on home, health, social and emotional dimensions of adjustment than the low achievers. Since high scores on Bell Adjustment Inventory signify poor adjustment and low scores better adjustment. High achievers on Bell Adjustment inventory significantly high adjustment than low achievers, it can be said that the low achievers suffer more from adjustment problems than the high achievers.

Conclusion

The comparison of the high and the low achievers in respect of home, health, social and emotional dimensions of adjustment has yield significant t- values of 2.21, 5.53, 3.77 and 2.30 respectively. The findings of the present study have support from the observation made by Daulta (2008), De and Singh (1970), Gupta (1970), Sinha (1966), and several others. They report that the high achievers tend to be more stable and adjusted in different situations than the low achievers.

References

- Ameerjeen, M.S. (1983): Personality and academic achievement of schedule caste schedule tribe college students of agricultural science. A comparative study. Unpublished Ph.D. Thesis, Bangalore University.
- Chauhan, P. R. S. (2006): Adjustment of College Students in relation to some personality characteristics, Doctoral Dissertation unpublished Thesis, B.R.Ambedkar Bihar University, Muzaffarpur.
- Daulta, Meena Siwach nee. (2008): Impact of home environment on the scholastic achievement of children. J. Hum. Ecol: 23 (1): 75-77.
- De Bimleshwar and Singh, R. (1970): Home adjustment as a determinant of academic motivation, Indian Educational Review, 5(2), 52-58.
- Gupta, H.G. (1970): A comparative study of the personality characteristics of high and low achievers as related to their academic achievement. The Rajasthan Board Journal of Education, 6, 29-35.
- Mattoo Mohammad Iqbal.(1994): Vocational interests, adjustment problems and scholastic achievement of high and low creative students. Indian Educational Review, 29 (1&2). 86-88.
- Miya, I and Krishna, K.P. (1996): Adjustment problem among socio-Economically deprived adolescents. Indian Journal of Psychol. Issues, Vol. 4 (1), 32-35.
- Orpen, C. (1976): Personality and academic attainment: A cross- cultural study, British Journal of Educational Psychology, Vol. 46 (2), 220-222.
- Sharma, Mukta and Mehta, Manju. (1993): The effect of discordance between interest and chosen curriculum upon psychological adjustment and academic achievement.Indian, Journal of Psychometric and Education 24 (1), 25-30.

A Comparative Study - Insecurity among Co-Education and Single Gender Education School Students

Dr.Smritikana Mitra Ghosh

Abstract

The present investigation was conducted with a view of comparative study on Insecurity feeling of co-education and single gender education school students of Ranchi. Sample consisted of 160 students out of whom 80 were from co-education and the other 80 were single gender education schools of Ranchi having age range 17 - 18 years. All of these belong to middle socio-economic status. Security - Insecurity Scale developed by Shah was administered to know about the insecurity level of the students. Findings revealed no significant difference between co-education and single gender education school students on Security - Insecurity Scale.

In present educational environment girls and boys study in either co-educational or single gender education schools. In India, boys are said to do better in single gender classrooms because of the varying educational needs of boys when compared to girls. However, the number of single-gender schools has dropped substantially over the past 40 years. Before the 19th century, single-gender schooling was common. During the 19th century, more and more co-educational schools were set up. Together with mass education, the practice of co-education was universalized in many parts.

Co-education

Education of girls and boys in the same institutions. The system of education in which both girls and boys attend the same institution or classes.

Single Gender Education

A school that is for either girls or boys, but not both.

Schools are one important place where children have contacts with their peers, form friendship, and participate in social groups with other children. As children grow from infancy through adolescence, peers are increasingly important in their lives. Their interactions become more complex with age. In adolescence- peer relationship affect whole personality. Girls and boys have different characteristics, needs etc. to each other, therefore people think that due to these differences it is must to provide different educational conditions and for this purpose tradition of co-education emerges. But with the modernization of society people think that for development of an androgynous personality of individual or for better development of individual, it is must to provide that type of educational condition in which individual easily understand

the characteristics of their opposite gender and for reducing antagonism, the trend of co-education emerges.

Co-educational schools offer students the opportunity to exchange a broad range of opinions and viewpoints with their peers since the schools comprise a mixed gender student body. In a co-educational learning environment, students are exposed to both male and female role models. Both girls and boys at co-ed schools have positive self-images, are socially well adjusted, and enjoy being challenged. Students at co-ed schools responded in the survey that they make friends easily with members of the opposite gender and that their peers are more likely to respect members of the opposite gender. Again, student responses confirm that independent co-education schools foster an environment that prepares students for real-world experiences and situations.

There are many advantages and hardly any disadvantages in the co-educational system of education. The first advantage is that if boys and girls are taught together, there will not be any need for opening separate schools for girls and boys. Co-education is an economical system, because both girls and boys can study in same schools and they can be taught by the same staff. Girls and boys have to live together in the society in their later lives and if they are taught together from the very beginning, they can understand each other well. The girls will not feel shy in the presence of boys. The boys will also not tease the girls. It is also a common experience that the boys behave decently in the company of girls. They do not use rough and abusive language in the presence of girls. They also dress properly and talk mannerly. The girls will also lose their fear of the boys if they are taught with them. On the other hand if boys and girls are taught in separate schools, boys misbehave with the girls. The boys always have a curiosity to know about them. But when they study together, their curiosity is satisfied and they do not consider girls as strange creatures.

Co-education schools offer:

- A diverse student body that reflects both genders
- Preparation for real-world experiences and situations
- Exposure to male and female role models
- Exposure to different leadership styles
- Exposure to diverse values and lifestyles
- A rich academic experience
- Encouragement of wide-ranging opinions and ideas
- Preparation of boys and girls to become leaders
- Creation of a good learning and social environment in the classroom
- Nurturing confidence in boys and girls.

Many parents in India admit their daughters only in the girls' schools rather than in those that focus on co-education. Everybody knows the reason behind it. All this stems from the insecure feeling that prevails among the parents regarding their daughters' safety. They also fear that co-education will develop immoral relationship between girls and boys. They belive that in this system both the girls and boys will be spoilt these arguments do not hold much water.

Insecurity is a word we offen use in our conversation. We all were insecure. No human being is exempt from feeling of insecure as long as they are living in a community of other people. The condition or quality of being insecure, want to safety, danger, hazard; as, the insecurity of a building liable to fine, insecurity of a bedt. Insecurity comes in a different shapes and forms in our lives, causing negative feelings to overshadow our true worth. Having loads of insecure feelings cause one to enjoy less of life and rods him of the chance to realize his full potential. Kids feel insecure when they don't have or don't find their parents around. We are social beings. We are dependent on each other for our physical and emotional survival and, we want to be accepted and appreciated by others around us so we can feel a sense of reciprocity in our network of relationships.

Hypothesis

The security - insecurity of adolescent girls and boys coming from co-education and single gender education school does not differ significantly.

Method

Participants

The sample consisted of 160 students out of whom 80 were from co-education and the other 80 were from the single gender education school of Ranchi town between 17 and 18 years (mean age 17.3 years) volunteered for this study.

Instument

Security- Insecurity Scale (SIS)

This test was developed by Shah (1989). It contains 75 items and measures security in eight areas-family security, school security, security peer group, study context security, prospective context security, test context security, self context security and existence context security. It is meant for 10^{th} to P.G level students of both the genders. It is a highly reliable and valid instrument.

Procedure

The Security- Insecurity Scale was administered to both groups with instructions to complete all questions honestly and not to discuss the questions with fellow students. Scoring was done according to the respective scoring keys. In order to fulfill the objective of the study the score obtained were analysized with mean, SD's and t values.

Result and Discission

Table 1: *Means, SDs and t value of co-education and single gender education girls student on Insecurity Scale.*

Groups	*Means*	*SDs*	*t value*
Co-education	30.55	5.52	0.79 (NS)
Single Gender Education	31.55	5.61	

NS: Not Significant

Table 2: *Means, SDs and t value of co-education and single gender education boys student on Insecurity Scale.*

Groups	*Means*	*SDs*	*t value*
Co-education	34.42	5.86	0.29 (NS)
Single Gender Education	34.8	5.89	

NS: Not Significant

The purpose of the present study was to investigate whether; co-education and single gender education school students differ on insecurity feeling. To examine the framed hypothesis t – test was applied to find out the significant differences among mean scores of two groups. Results are mentioned in the Table – 1 and 2.The result clearly revealed that there is no significance in insecurity feeling among co-education and single gender education school students (girls & boys).Hence null hypothesis is accepted. The result does not significant.

Conclusion

The findings of the present study indicated that there is no significant difference between co-education and single gender education school students on insecurity feeling.

Job Satisfaction and Industrial Psychology

Sidam Singh Munda

Assistant Professor, Sahibganj College, Sahibganj

Job satisfaction describes how content an individual is with his or her job. The happier people are within their job, the more satisfied they are said to be. Job satisfaction is not the same as motivation, although it is clearly linked. Job design aims to enhance job satisfaction and performance, methods include job rotation, job enlargement and job enrichment. Other influences on satisfaction include the management style and culture, employee involvement, empowerment and autonomous work position. Job satisfaction is a very important attribute which is frequently measured by organizations. The most common way of measurement is the use of rating scales where employees report their reactions to their jobs. Questions relate to rate of pay, work responsibilities, variety of tasks, promotional opportunities the work itself and co-workers. Some questioners ask yes or no questions while others ask to rate satisfaction on 1-5 scale (where 1 represents "not at all satisfied" and 5 represents "extremely satisfied").

Definitions

Job satisfaction has been defined as a pleasurable emotional state resulting from the appraisal of one's job; an affective reaction to one's job; and an attitude towards one's job. Weiss (2002) has argued that job satisfaction is an attitude but points out that researchers should clearly distinguish the objects of cognitive evaluation which are affect (emotion), beliefs and behaviours. This definition suggests that we form attitudes towards our jobs by taking into account our feelings, our beliefs, and our behaviours

History

One of the biggest preludes to the study of job satisfaction was the Hawthorne studies. These studies (1924-1933), primarily credited to Elton Mayo of the Harvard Business School, sought to find the effects of various conditions (most notably illumination) on workers' productivity. These studies ultimately showed that novel changes in work conditions temporarily increase productivity (called the Hawthorne Effect). It was later found that this increase resulted, not from the new conditions, but from the knowledge of being observed. This finding provided strong evidence that people work for purposes other than pay, which paved the way for researchers to investigate other factors in job satisfaction.

Scientific management (aka Taylorism) also had a significant impact on the study of job satisfaction. Frederick Winslow Taylor's 1911 book, Principles of Scientific Management, argued that there was a single best way to perform any

given work task. This book contributed to a change in industrial production philosophies, causing a shift from skilled labour and piecework towards the more modern.

Headline text of assembly lines and hourly wages. The initial use of scientific management by industries greatly increased productivity because workers were forced to work at a faster pace. However, workers became exhausted and dissatisfied, thus leaving researchers with new questions to answer regarding job satisfaction. It should also be noted that the work of W.L. Bryan, Walter Dill Scott, and Hugo Munsterberg set the tone for Taylor's work.

Some argue that Maslow's hierarchy of needs theory, a motivation theory, laid the foundation for job satisfaction theory. This theory explains that people seek to satisfy five specific needs in life – physiological needs, safety needs, social needs, self-esteem needs, and self-actualization. This model served as a good basis from which early researchers could develop job satisfaction theories. Job satisfaction can also be seen within the broader context of the range of issues which affect an individual's experience of work, or their quality of working life. Job satisfaction can be understood in terms of its relationships with other key factors, such as general well-being, stress at work, control at work, home-work interface, and working conditions.

Models of Job Satisfaction

Affect Theory

Edwin A. Locke's Range of Affect Theory (1976) is arguably the most famous job satisfaction model. The main premise of this theory is that satisfaction is determined by a discrepancy between what one wants in a job and what one has in a job. Further, the theory states that how much one values a given facet of work (e.g. the degree of autonomy in a position) moderates how satisfied/dissatisfied one becomes when expectations are/aren't met. When a person values a particular facet of a job, his satisfaction is more greatly impacted both positively (when expectations are met) and negatively (when expectations are not met), compared to one who doesn't value that facet. To illustrate, if Employee A values autonomy in the workplace and Employee B is indifferent about autonomy, then Employee A would be more satisfied in a position that offers a high degree of autonomy and less satisfied in a position with little or no autonomy compared to Employee B. This theory also states that too much of a particular facet will produce stronger feelings of dissatisfaction the more a worker values that facet.

Dispositional Theory

Another well-known job satisfaction theory is the Dispositional Theory Template:JacksonApril 2007. It is a very general theory that suggests that people have innate dispositions that cause them to have tendencies toward a certain level of satisfaction, regardless of one's job. This approach became a notable explanation of job satisfaction in light of evidence that job satisfaction tends to be stable over time and across careers and jobs. Research also indicates that identical twins have similar levels of job satisfaction. A significant model that

narrowed the scope of the Dispositional Theory was the Core Self-evaluations Model, proposed by Timothy A. Judge in 1998. Judge argued that there are four Core Self-evaluations that determine one's disposition towards job satisfaction: self-esteem, general self-efficacy, locus of control, and neuroticism. This model states that higher levels of self-esteem (the value one places on his/her self) and general self-efficacy (the belief in one's own competence) lead to higher work satisfaction. Having an internal locus of control (believing one has control over her\his own life, as opposed to outside forces having control) leads to higher job satisfaction. Finally, lower levels of neuroticism lead to higher job satisfaction.

Two-Factor Theory (Motivator-Hygiene Theory)

Frederick Herzberg's Two factor theory (also known as Motivator Hygiene Theory) attempts to explain satisfaction and motivation in the workplace This theory states that satisfaction and dissatisfaction are driven by different factors – motivation and hygiene factors, respectively. An employee's motivation to work is continually related to job satisfaction of a subordinate. Motivation can be seen as an inner force that drives individuals to attain personal and organizational goals. Motivating factors are those aspects of the job that make people want to perform, and provide people with satisfaction, for example achievement in work, recognition, promotion opportunities. These motivating factors are considered to be intrinsic to the job, or the work carried out. Hygiene factors include aspects of the working environment such as pay, company policies, supervisory practices, and other working conditions.

While Hertzberg's model has stimulated much research, researchers have been unable to reliably empirically prove the model, with Hackman & Oldham suggesting that Hertzberg's original formulation of the model may have been a methodological artifact. Furthermore, the theory does not consider individual differences, conversely predicting all employees will react in an identical manner to changes in motivating/hygiene factors. Finally, the model has been criticised in that it does not specify how motivating/hygiene factors are to be measured.

References

- Arndt, William B. Jr. : *Theories of Personality*, Macmillan, New York, 1974.
- Asch, M : *Abnormal and Developmental Psychology*, Ivy Pub, Delhi, 2003.
- Boring, E.G.: *A History of Experimental Psychology*. New York: The Century Company, 1929.
- Chaudhri, R.D. : *Herbal Drugs Industry : A Practical Approach to Industrial Pharmacognosy*, Eastern, Delhi, 1996.
- Dibbern, Jens : *The Sourcing of Application Software Services, Empirical Evidence of Cultural, Industry and Functional Differences,* Physica Verlag Heidelberg, 2004.
- Dicken, P. : *Wheels of Change, the Automobile Industry, Global shift, Mapping the Changing Contours of the World Economy*, London, 2007.
- Dubey, K.C. : *Experimental and Developmental Psychology*, Omega Pub, Delhi, 2009.
- Ellis, A. *:Humanistic Psychology, The Rational-emotive Approach,* Julian Press, New York, 1973.
- Georgi, A. : *Psychology as a Human Science*, Harper & Row, New York, 1970.

Anthropological Survey of Indian Maravars Tribes

Kumari Sunita Chaudhary

Research Scholar, Department of Anthropology, TMBU, Bhagalpur

Maravar is another warrior tribe that is related to Tamil Muthurajas. Maravar are one of the oldest social groups to be mentioned by the Sangam Tamil literature. This indicates an association with the Tamil land which is at least 2,000 years old. Maravar, in Tamil, means a warrior. Maravars are the courageous breed and were involved in the major wars that Tamilnadu witnessed. Other historians postulate that Maravar is derived from Tamil language term Marutham. The name of the city Madurai is also postulated to be derived from Maruthai and honorific title of local Pandya kings.

The Maravar were, according to the Madras Presidency census report for 1891 "a fierce and turbulent race famous for their military prowess" and were "chiefly found in Madura and Tinnevely where they occupy the tracts bordering in the coast from Cape Comorin to the northern limits of the Ramnad Zemindari."The Dutch found them to be the traditional soldier caste of Jaffna and availed themselvesof their caste services as such one of the earliest instances of a colonial power making use of a specific military caste in South Asia.

As a community, the Mmaravars are hailed as patriotic, brave, courageous, and fighters for freedom. The Villupattu ballads 'Poolithevan Kadai' and 'Veerapandiya Kattabomman Kadai' are interesting to read. Their courage and love for freedom come out strongly. The Kallars and Agamudayars are part of the Maravar community as belonging to Mukkulathor. Poolithevan, who belonged to the Maravar community, was the first freedom fighter from Tamil Nadu, a fact not well known. The other Maravar warriors about who we can come across ballads are - Vandaiya thevar, Mechum Peruman Pandiyan, Sonamuthu Pandian, Balammal, Vannirajam, Vanniyadi Maravan and, Sappani Muthiah.

Puli or Pooli is one of the surnames of used by Maravars and this surname can also be seen among Tamil Muthurajas and Telugu Mudirajas. The Maravar in Madura and Tinnevelly likewise claim the position of Rajputs, and if we regard them as a warrior tribe, they are entitled to this distinction.

They are also most probably in some way connected with Mars (Maars) of the North India. Marwari bhils belong to South Punjab north of Dadu and Nawabshah. They could be bhilalas of North India, who many times claimed to be Rajputs. Two communities who Vanniars and Marwars of Tamilnadu were Jains at one point of time. Mutharayars were the first kings who supported Jainism in South India. Vanniars were essentially a sea farers and traders, so were the Marwars. Marwars could most probably belonged to Marwad at some point of time and this was the region from where most Mudiraja relatribes came to South India. These clans mostly came from North where Jainism took its birth. In Hindi and sanskrit language, the words "Mara" and "Maro" are related and points to Killing. Maravar or Maravan could mean They could be a

killer tribe of Marwar region near Rajasthan. The Maravar have to a great extent preserved their freedom and independence They are brave, warlike, self willed like most semi barbarous races, but they have latterly taken to more peaceful pursuits than they used to follow formerly. Their chief was the Setupati of Ramnad, one of the oldest and most respected princes in South India, and who is still highly honoured.

The Uttumalai kings were members of the Maravar caste. Maravars are one of the three clans of Mukkulathor. There were as many palayams governed by maravars. Their history was officially recorded by Lord McEnzee and They have been published by State Archaeology Dept. You can find in them that Maravar zamins have refused to give their daughters to the Pandiya kings. They refused saying that they wont give their daughters to the "Chandra vamsa kings". It is a known fact that Pandiyan kings claimed them as Chandra kulam. Resistance to British rule was also offered by Padal Vellaiya Devan who fought the British along with Kattabomman. His son Desakaval Senbaga Devar is also remembered for his exploits.

Queen Velu Nachiyar, Queen of Sivaganga, is another noted personality who fought with the British during early British Era. The Maruthu Pandiyar brothers are notable for their role in the Polygar Wars. They were eventually captured by the British and hanged in 1801. According to the description in Kanakasabhi, the Maravars were men of curled locks of hair, blood thristy, armed with bow bound with leather, ever ready to injure others, shoot their arrows at poor and helpless travellers, from who they can rob nothing, only to feat their eyes on the quivering limbs of their victims. Thus the Maravars were represented as fierce warriors and merciless robbers as early as the first few centuries of Christian era. They were potrayed as outsiders in Tamilnadu in the early centuries. But they progressively changed as they wtitched over to settled agriculture and cultivation. They could not fit neatly coventional South Indian notion of caste hierarchy. They could be Kalabhras from South Andhra and Deccan India.

Many Maravars were Tamil Zamindars eight big or small. Maravars were warriors with a tradition of Lordship and protection in the village localities. They were similar to Kapus and Kavalgars in Andhra region. According to evidences collected by British officers from Tinnevelly district, the Maravars were 10 % of the population but committed 70 % of rural crime or dacoity. Some groups of these Marvars were declared as Criminal Tribes or Castes in 1911. The foremost among those designated as " Criminal Tribes " in the Madras presidency were the Kallars and Maravars of Tamilnadu. During 1919 -20, about 1400 piramalai Kallars were brought under this section, the hours were fixed between 11 pm to 4 am, which compelled then to sleep at police station each day.

George Joseph, who established himself as a leading criminal lawyer in Madurai became quite affluent with a large house, a retinue of servants, a horse and carriage, etc. A promising legal career with the prospects of high judicial office in the future was cut short by his passionate involvement in public affairs. Right from the beginning of his practice, he espoused the cause of the so-called criminal tribes of Madurai like Paramalai Kallars, Maravars, etc.

In 1929 the Maravars of 19 villages in Appanad were forced to registered under the CTA. Since 1920 the Criminal Tribes Act had been enacted by the government of the Madras Presidency and began to be implemented in the Madurai, Ramnad and Tirunelveli districts. After Sri U. Muthuramalingan

Thevar's entry into politics, Thevar began to mobilize resistance to the CTA. He toured villages in the affected areas and led protest rallies for the rights of the individuals registered under the CTA. The authorities partially withdrew, and reduced the number of CTA registrations in the concerned areas from around 2000 to just 341.

The Kallars, like the Maravars, settled in mixed economy zones such as Pudukkottai on the borders of the central political and economic regions of the south. In these areas they quickly attained dominance in late medieval times by exercising rights of protection (patikkaval) over local communities and institutions. The Kallars were successful in this role because their strongly kin and territory based social structure and cultural valuation of heroism and honour were highly conducive to the corporate control of the means of violence and coercion. It was no accident that Kallars, like Maravars, were often, when not granted rights of protection, the very groups from which others sought protection.

The Tondaiman dynasty of Kallar kings wrested control over a significant swath of the Pudukkottai region in central Tamil Nadu in the last quarter of the seventeenth century. Whereas Kallars had been branded as thieves in much early Tamil literature and as criminals by the British under the Criminal Tribes Act, in Pudukkottai—a little kingdom that became the only Princely State in the Tamil region of southern India—they became the royal caste. Kallars controlled much of the land, occupied the greatest number of authoritative positions, particularly as village and locality headmen and as miracidars, and ran the most important temples as trustees.

Kallar and Maravar districts of South were notoriously unsettled. Kondavan Kottai Maravar is one such group that has been classified as Seer Marabinar. This group was categorized as Criminal Tribes during the British Rule. During the British Era. There were several decoity/armed robbery committed by Maravars during this period. To contain this activity the British declared laws that outlawed the tax collection and arrested several Maravar community members and subjected them to comply with several regulatory procedures. About 90 in every hundred Kallars and 79 Maravars were cultivators, but have still of course leisure hours; inordinate attachment to their neighbours' goods and cattle makes them figure largely in jail statistics for theft and dacoity, their hereditary calling. They are known as cattle lifters.

The opposite of the valorized martial caste, (whose members exuded fortitude, nobility, etc.) were the criminal castes, e.g., the Tamil Kallars. Some of the criminal castes demonstrated sustained antipathy to British rule. The District Magistrate must bring occasionally some of their settlements under the operation of the Criminal Tribes' Act passed in 1911. The Criminal Tribes Act of 1911, with the express objective of thoroughly obtaining knowledge of, supervising and disciplining the Kallar and Maravar who were classified as dacoits and thugs under this act.

Here is a write-up on the suppression of Tamil Martial castes Kallars, Maravars and Ahampadiyar. - What did the British mean by the Tamil habit of predatory war? The Tamil works which contain treatises on martial life and the conduct of war define it as Thannuru tholil (a task undertaken on one's own) and Mannuru tholil (a task undertaken on behalf of the king or commander). Tholkappiyam, Purathinaiyiyal, Unlike many other martial castes of the

subcontinent, the Kallar and the Maravar were not yeoman peasants who dropped the plough for the sword only in times of war. They had to seek battles even when their king or chieftain was not at war. Most of the hero-stones found in Tamilnadu commemorate such battles between groups of Kallar or Maravar.

Some of the warrior gods who are worshipped to this day in southern Tamil Nadu are Maravar, who distinguished themselves in such battles which took place even after the British began to abolish the culture of predatory war.

The bow-song of Eena Muthu Pandian, a Tamil demigod, describes the martial life and heroic deeds of that Maravar warrior who lived in British times. The warrior's virtue was to desire the bliss of the hero's heaven; it was degrading for him to seek fertile lands. The most important structure which gave the Kallar and Maravar immense power in the Tamil country-side was the system of kaval. It was abolished in 1832. This has been the traditional means by which the Kallar, Maravar and Ahampadiyar derived their livelihood in times of peace when they were not employed as soldiers. The Kallar and Maravar who had been referred to as the military tribes of the southern provinces by early British writers were classified as criminal tribes towards the end of the nineteenth century.

The manual of the Tinnevely district, described the origins of the Maravar kavalkarars thus: "As feudal chiefs and heads of a numerous class of the population, and one whose characteristics were eminently adapted for the followers of a turbulent chieftain, bold active, enterprising, cunning and capricious, this class constituted themselves or were constituted by the peaceful cultivators, their protectors in times of bloodshed and rapine, when no central authority existed. Hence arose the system of desha and stalum kaval, or the guard of separate villages.

The feudal chieftain (and his Kallar and Maravar) received a contribution from the area around his fort in consideration of protection afforded against armed invastion." It was ascertained that "according to native ideas", husbandry was their only proper means of livelihood and that they had no established traditions of kingship, like Kallar and Maravar. The Madurai Manual noted that Aryanayaga Mudali, the great general of the sixteenth century was dissuaded from making himself a king on the ground that no Vellalan ought to be a king.

References

- Agrawal, M.M. : *Ethnicity, Culture and Nationalism in N.E. India,* New Delhi: Indus Publishing Company, 1996.
- Bailey F.G. : *Tribe, Caste and Nation, Bombay*: Oxford University Press, 1960.
- Bala Kiran *: Social and Economic Development of Scheduled Tribes*, Deep & Deep, Delhi, 2000.
- Crooke W. : *Natives of Northern India,* London : Archibald Constable and Co., Ltd., 1907.
- Daniel M. *: Socio-Cultural and Religious Life of Mao Naga Tribe*, Mittal Pub, Delhi, 2008.
- Ghosh Abhik *: History and Culture of the Oraon Tribe : Some Aspects of Their Social Life*, Mohit Pub, Delhi, 2003.
- Joshi O. P. *: Art and Aesthetics in Tribes of Gujarat*, RBSA, Delhi, 2006.
- Karma Oraon *: Dimension of Religion, Magic and Festivals of Indian Tribe : The Munda*, Kanishka, 2002.

Goods and Service Tax: Advantages and Challenges

Parveen Kumari

PGT Economics, Haryana

Abstract-

It is worth saying that Goods and Service Tax is value added tax which is implemented on most of the goods and service sold for domestic consumption. The main motto for the implementation of GST is to make uniform the different tax system in India and to avoid the trend of repetition. The objective of this paper is to prove that, the main reason of GST is to take over existing taxes like Value Added Tax, exercise duty, service tax and sale tax. This paper chiefly highlights the concept of GST and its impact in India, it also give direction to the advantages & challenges to implementing GST and also suggestions for implementation.

Introduction

The GST implemented on July 1,2017 is regarded as a major taxation reform till date implemented in India, since independence in 1947. It was planned to be implemented in April 2010, but was postponed due to political issues and conflicting interest of Stakeholders. Initially the objective behind GST is to submerge all sorts of indirect taxes in India such as central Tax, Vat/Sales tax, Service tax etc. They have implemented one taxation system in India.

The word 'Tax' has its own history as it has been derived from the latin word 'Taxare' which means to estimate. It has been said that, tax is not a voluntary payment or donation, but enforced contribution, exacted pursuant to legislative authority and is contribution imposed by the government, whether under the name of toll, tribute, impost, duty, custom, subsidy, crid, supply or any other name(Chakraborty & Rao, 2010; Garg, 2014)

Broadly, In India there are two type of taxes Direct and Indirect taxes. Taxes in India are runned by the Central Govt. and State Governments. There are some minor taxes which are also levied by the local authorities such as municipality or local council. Our country permits the power to levy various taxes b/w center and state. GST bill was implemented by Govt. from 1st April 2017(Clause 366(12A) of the constitution Bill defines GST as "Goods and Service Tax" it means any tax will be implemented on supply of goods or service or both except taxes on the supply of the consumption of Alcohol. So it is important to notice that GST is an Comprehensive tax levy on manufacture, Sale and Consumption of goods and service at a national level.

It is tax that goods and service with value addition at each stage having continuous chain of set of benefits from producers or service providers to retailer level where only the final consumer should bear the tax burden. GST is develop

on the basis of Vat concept. Instead of previous tax system, GST would be charges only at the time of sale.

Components of GST:- GST will have a common base by both central and state Govt. simultaneously. The dual GST can be Categorized into the following-

1. Central GST(CGST)- GST to be levied by the Central Government.
2. State GST(SGST)- GST to be levied by states/union.
3. Integrated GST(IGST)- GST levied by central govt. On interstate supply of goods and service to ensure that the orbit chain is not disrupted. Custom duties, import of goods and services would be treated as inter state supplies and would therefore be subject to IGST.

Rate of GST: Rate of GST charged all over the India (state and central) will be uniform along with regulations, definitions and classifications. GST has merged the indirect central and state taxes into four tier schedule of 5, 12, 18 and 28 percent. Necessity goods is taxed at 5 percent and luxury and consumer durable goods at 28 percent. Most of goods and service are taxed at the standard rates of either 12 or 18 percent.

Applicability of GST:- GST will be applicable to all Goods and services sold or provided in India, except for exempted goods which fall outside its boundary.

Payment of GST:- GST will be charged and paid separately in case of central and state level.

Input tax Credit (ITC)- The facility of input tax credit at central level will only be available in respect of central goods and service tax. The its of central GST shall not be allowed as a set off against SGST.

Advantages of GST:-

One of the key advantages of GST in India is the simplification of the tax structure. By subsuming multiple indirect taxes into a single tax system, GST has reduced the complexity and compliance burden for businesses. This has improved tax compliance and reduced the scope for tax evasion, leading to increased tax revenues for the government. Moreover, the uniformity in tax rates across states has created a level playing field for businesses and facilitated interstate trade.

Another advantage of GST is the elimination of the cascading effect of taxes. Under the previous tax regime, taxes were levied on tax, leading to an inflationary impact on the prices of goods and services. With GST, taxes are levied only on the value added at each stage of the supply chain, reducing the overall tax burden on the end consumer. This has helped in reducing the overall cost of goods and services, making them more affordable for consumers.

Additionally, the introduction of input tax credit (ITC) under GST has been a significant benefit for businesses. ITC allows businesses to claim credit for the taxes paid on inputs used in the production process, reducing their overall tax liability. This has improved cash flow for businesses and made them more competitive in the global market.

1. Export Promotions: Due to GST customs duty on exporting goods has reduced. GST has also decreased the cost of production in local market. All these factors have increased the rate of exports in the country. Companies have become more capable when it comes to expanding their business globally. The Barden of tares has reduced for companies and customers. Not just this, taxpayers have increased in number and hence the tax revenues have also increased significantly. The overall taxation system is easier to administers. Morehouse small and medium enterprises are able to enhance their businesses. It is expected that GST will help more Indian organizations to establish themselves in the international market.
2. Encourage the production:- According to the Indian retail industry the total cost collected is about 30% of the product cost. GST causes the reduction of taxes due to which the last consumer is paying less taxes. Therefore increase the production in retail and other industries.
3. Effect on Small and Medium Enterprises: GST enable the SME to REGISTER THEM UNDER THE COMPOSITION SCHEME. This scheme make them to pay taxes on the basis of their annual turnover. The industries which are having a turnover of more than Rs. 1.5 crores have to pay only 1% GST.
4. Enhanced PAN India operations:- GST helps to remove the bottlenecks of taxation. These bottlenecks are in the form of toll plazas & check posts. Before GST, these causes hinderances and causes damage to unpreserved products during transporting them. So manufactures has to keep buffer stock to make up for the damage. All these factors lower down their profits.GST introduced a single taxation system and it help in lowering down these bottlenecks. They can now transport their goods easily all over the India. So, Gst results in a rapid improvement in PAN India operations.

Disadvantages of GST:

The GST come with its share of downsides despite the above GST Benefits. There are certain disadvantages of GST that make this tax challenging to implement.So, lets try to understand the doensides of implementing this indirect tax.

GST will Increase Operational Cost

GST is changing the way how taxes paid. Businessess will now have to imploy tax professionals. It increase cost for small businesses, they will have to bear the additional cost of hiring new employ. Businesses will need to train their employer for GST it increasing their overhead cost.

GST is an online taxation:- GST is an online taxation system many businesses did not know how to making that type of payment by online. This is very tough for some smaller businesses adapt to.

GST is multiple rate system:- Instead of more simplified tax structure, the GST in India with five standard rates. According to many economist the structure of GST is more complex than previous tax structure. India, there are multiple states, each has its own issues with regard to GST rates. Every state wants lower

rate of their particular goods they produced. That why the GST council implementing multiple tax rate under GST.

Compliance very high GST:- GST is totally IT-driven law. In India, It is not possible because all states are not equipped with necessary infrastructure to implement this system to its full extent.

GST increase Cost of consumer Goods: Some item such as courier, insurance, health care, DTH service etc. will become more costlier due to implementation of GST. There items are used for every day by millions peoples.

Challenges of GST in India

Despite its numerous advantages, GST also faces several challenges in India. One of the key challenges is the complexity of the GST filing process. The online portal for GST filing has faced technical glitches and has been difficult to navigate for many taxpayers, leading to delays and compliance issues. The government needs to simplify the filing process and make it more user-friendly to ensure smooth implementation of GST.

Another challenge of GST is the multiple tax rates and exemptions under the system. Currently, GST has four tax slabs – 5%, 12%, 18%, and 28% – along with exemptions for certain goods and services. This has resulted in confusion among taxpayers and has made compliance more challenging. The government needs to rationalize the tax rates and exemptions under GST to make it more transparent and predictable for businesses.

Moreover, the compliance burden for small and medium enterprises (SMEs) has been a major challenge under GST. SMEs often lack the resources and expertise to comply with the complex tax laws, leading to instances of non-compliance and penalties. The government needs to provide more support and training to SMEs to help them meet their tax obligations under GST.

Conclusions:-

GST play an important role in economy because of their efficiency and equity. The ongoing tax reforms on moving good and service tax would affect the national economy, international trade, firms and the consumers. GST is a good deal of criticism as well as appraisal consumption and production of goods and service in increasing so transparent tax system is required, which can be fulfilled by implementation of GST.

All sector of economy shall have to fear impact of GST. All section of economy big, small, medium, importer, exporter, professionals and consumers shall be directly affected by GST. GST will face many challenges after its implementation and will result to give many benefits. In overall we conclude that GST play a dynamic role in growth and development of our country.

In conclusion, Goods and Services Tax (GST) has brought about significant advantages for the Indian economy, such as simplification of the tax structure, elimination of the cascading effect of taxes, and improvement in tax compliance. However, there are also challenges that need to be addressed for the successful

implementation of GST, such as simplifying the filing process, rationalizing tax rates and exemptions, and providing support to SMEs. By addressing these challenges, the government can ensure that GST continues to be a game-changer for the Indian economy.

Reference

1. Monika Sehrawat, GST in. India. A key tax reform, International Journal of Research Granthaalayah, 2015:3(12):133-141
2. Ajit The Tribune, 2016 (iv) www.gstindia.com
3. http//m.rediff.com
4. Ministry of Finance, Government of India. (2017). Goods and Services Tax (GST). Retrieved from https://www.gst.gov.in/
5. Arora, N. K., & Jain, A. K. (2017). Impact of Goods and Services Tax (GST) on Indian Economy. Journal of Emerging Technologies and Innovative Research, 5(9), 82-86.
6. Chaudhuri, S., & Mukherjee, M. (2017). A Study on GST and its Impact on Indian Economy. International Journal of Innovative Knowledge Concepts, 6(3), 463-467.

Yoga for Diabetes Mellitus: A Holistic Approach to Health

Mr. Elias Pinto

Physical Education Director, Sacred Heart College, Madanthyar

Introduction:

Diabetes Mellitus, commonly referred to as diabetes, is a serious metabolic disorder characterized by the body's inability to properly regulate blood glucose levels. Unlike Diabetes Insipidus, which affects kidney-related fluid retention, diabetes involves issues with insulin production or its effectiveness in facilitating glucose uptake by cells. Understanding the role of glucose in the body is crucial to comprehending the impact of diabetes and the consequences of unstable blood sugar levels.

Glucose serves as the primary fuel source for the body's cells, providing essential energy for cellular functions. After consuming food, especially carbohydrates, digestion converts these nutrients into glucose, which enters the bloodstream, causing blood sugar levels to rise. For cells to utilize glucose effectively, insulin—a hormone produced by the pancreas—acts as a key to unlock cell membranes, allowing glucose to enter and be used for energy production. This process maintains stable blood sugar levels essential for cellular function and overall health.

The body naturally regulates blood glucose levels through insulin release from the pancreas in response to dietary intake. Foods high in refined sugars cause rapid spikes in blood glucose levels, necessitating a surge of insulin to facilitate glucose absorption by cells. Conversely, complex carbohydrates, such as whole grains and legumes, release glucose more gradually, requiring a steadier release of insulin to maintain balanced blood sugar levels. Consistently elevated blood glucose, or hyperglycemia, can lead to serious health complications, while low blood sugar, or hypoglycemia, can cause immediate symptoms like dizziness and confusion.

Insulin dysfunction, either due to inadequate production or ineffective utilization by cells, disrupts this delicate balance, resulting in diabetes. Type 1 diabetes, often diagnosed in childhood, involves the pancreas's inability to produce sufficient insulin. In contrast, Type 2 diabetes, typically occurring in adults, involves insulin resistance—where cells become less responsive to insulin's actions over time. The prevalence of diabetes, particularly Type 2, has surged globally due to lifestyle changes, urbanization, and dietary habits, presenting significant public health challenges.

Yoga, a holistic practice encompassing physical postures, breathing exercises, and meditation, offers therapeutic benefits for managing diabetes. By reducing stress levels, enhancing insulin sensitivity, and promoting overall well-being, yoga can complement conventional medical treatments for diabetes

management. Specific yoga poses, such as Bhujangasana (Cobra Pose) and Dhanurasana (Bow Pose), stimulate abdominal organs and improve digestion, potentially aiding in blood sugar regulation.

In countries like India, where diabetes prevalence is disproportionately high, lifestyle modifications including dietary adjustments and regular physical activity are crucial. The Indian population faces unique challenges, including early onset of diabetes and a significant burden of impaired glucose tolerance (IGT). Addressing these challenges requires comprehensive healthcare strategies that integrate yoga as part of a holistic approach to diabetes prevention and management.

It is essential to practice yoga under the guidance of certified instructors and consult healthcare professionals before initiating new exercise routines, particularly for individuals with existing medical conditions like diabetes. Integrating yoga into daily routines, alongside dietary modifications and medical management, can contribute to better blood sugar control, improved quality of life, and reduced risk of diabetes-related complications.

Diabetes Primarily has two Types:

Type 1 Diabetes: This occurs when the pancreas produces little or no insulin due to damage to beta cells. It is most common in people under 30, requiring insulin injections for blood sugar control, accounting for about 10% of cases.

Type 2 Diabetes: The pancreas produces insulin, but it may be insufficient or ineffective. This type is most prevalent, affecting around 90% of cases, and usually occurs in people over 40. Management includes lifestyle changes, oral medications, or insulin.

Other types include gestational diabetes and those caused by medications or specific illnesses.

Causes of Diabetes

The exact causes of diabetes are not fully understood, but several risk factors can increase your likelihood of developing the condition:

- Genetics: Family history of diabetes or personal history of gestational diabetes.
- Race: Higher risk in African-Americans, Hispanics, Native Americans, Asian-Americans, and Pacific Islanders.
- Pancreatic Injury: Damage from infection, surgery, or trauma.
- Autoimmune Conditions: Conditions that affect the immune system.
- Age: Risk increases with age.
- Physical Stress: Such as from illness or surgery.

Controllable risk factors include high blood pressure, abnormal cholesterol levels, smoking, being overweight, and certain medications (like steroids). Importantly, sugar consumption does not directly cause diabetes.

Symptoms of Diabetes

Common symptoms include:

- Increased thirst and hunger

- Frequent urination
- Dry mouth
- Unexplained weight loss
- Weakness and fatigue
- Blurred vision
- Numbness or tingling in extremities
- Slow-healing sores
- Dry, itchy skin
- Frequent infections

Symptoms of Low Blood Sugar (Hypoglycemia)

Symptoms of low blood sugar include:

Early Signs:

- Weakness or dizziness
- Hunger
- Sweating
- Rapid heartbeat
- Anxiety

Late Signs:

- Confusion
- Headache
- Poor coordination
- Nightmares
- Numbness in the mouth
- Loss of consciousness

Yoga and Yoga Therapy

Yoga, rooted in Indian philosophy, promotes a balance of physical, mental, and spiritual well-being. Derived from the Sanskrit term "Yuj," meaning "to join," yoga emphasizes the union of body and mind. Patanjali's Yoga Sutras outline the Eight Limbs of Yoga:

1. Yamas: Ethical standards
2. Niyamas: Self-discipline
3. Asanas: Postures
4. Pranayama: Breath control
5. Pratyahara: Sensory withdrawal
6. Dharana: Concentration
7. Dhyana: Meditation
8. Samadhi: Enlightenment

Yoga Therapy adapts these practices for individuals with health issues, helping to restore balance and manage conditions. Tailored regimens include specific postures, breathing exercises, and relaxation techniques, making it an effective complementary therapy for various ailments.

Diet for Diabetes Management

A healthy diet is essential for managing diabetes and stabilizing blood glucose levels. Key points include:

- Regular Small Meals: Eat frequent, smaller meals.
- Complex Carbohydrates: Choose whole grains (wheat, oatmeal, brown rice, beans).
- Limit Sugars: Avoid refined foods, junk food, and simple sugars.
- Eat Vegetables: Include plenty of green vegetables and salads.
- Stay Hydrated: Drink enough water throughout the day.
- These practices support effective diabetes management.

Suryanamaskar

Suryanamaskar is an excellent exercise for individuals with diabetes, enhancing blood circulation and improving insulin function. Practicing 3-6 rounds, each consisting of twelve postures, helps burn excess calories. When performed slowly, it also provides the benefits of asanas.

Asanas

Asanas play a crucial role in managing diabetes. Key to their effectiveness is the stability and comfort maintained in each position. Holding the poses while relaxing the muscles allows for increased blood flow and oxygen supply to internal organs, enhancing their function and efficiency. Some beneficial asanas include:

- Standing: Tadasana, Ardhakatichakrasana, Trikonasana
- Sitting: Dandasana, Vajrasana, Baddhakonasana, Paschimottanasana, Ustrasana, Ardha Matsyendrasana, Janu Sirsasana, Mandukasana
- Prone: Mandukasana, Bhujangasana, Salabhasana, Dhanurasana
- Supine: Navasana, Matsyasana, Suptaveerasana, Sarvangasana, Halasana, Savasana
- To positively affect the pancreas and improve insulin function, maintain these asanas for extended periods while relaxing.

Pranayama

Nadi Shodhan Pranayama (alternate nostril breathing) is beneficial for diabetes management as it calms the nervous system and reduces stress levels. Research also shows that Bhramari and Bhastrika Pranayama are helpful. Bhramari calms the mind and nervous system, while Bhastrika increases oxygen levels and decreases carbon dioxide in the blood. Before practicing these techniques, one should learn deep breathing and bandhas from an experienced instructor.

Meditation

Meditation is a vital aspect of yoga, providing mental relaxation and improving brain chemistry. Studies show that meditation techniques, especially in Kundalini Yoga, benefit hormonal balance and brain communication. A calm

and concentrated mind achieved through meditation helps balance the sympathetic and parasympathetic nervous systems. Beginners can start with Omkar chanting or breath focus. Concentrating on the pancreas during meditation may positively impact blood sugar levels.

Mudras

Mudras, or hand gestures, can enhance energy flow. Key mudras include:

- Chin Mudra
- Apana Mudra
- Varuna Mudra
- Vayu Mudra
- Yoga Nidra

Yoga Nidra is a deep relaxation technique that helps alleviate stress and positively impacts the body-mind connection.

Cleansing Processes

Shankha Prakshalana, a cleansing technique, is recommended for diabetes. It involves drinking warm, salty water with lemon juice and performing specific exercises to cleanse the gastrointestinal tract. This process should only be practiced under expert supervision and is recommended once every six months, with smaller versions performed three times a week.

Conclusion

Western medical research has primarily viewed diabetes as a physical disorder, emphasizing the need for physical interventions. While it acknowledges that regular exercise benefits individuals with both types of diabetes and may help prevent the onset of Type II in genetically predisposed individuals, it mainly recommends moderate-intensity exercise alongside dietary adjustments and insulin management to control weight and improve circulation.

In contrast, research in India has recognized diabetes as a psychosomatic disorder influenced by sedentary lifestyles and various forms of stress. Studies have shown that yoga postures can rejuvenate insulin-producing cells in the pancreas for both types of diabetes. Practicing these postures in a relaxed manner, combined with yogic meditation and breathing techniques, helps many patients manage the underlying causes of diabetes. Through the regulation of posture, breathing, and meditation, yoga enhances bodily functions and overall well-being.

Various yoga asanas work on the human body to create a balance between energy production and bodily needs. By harmonizing hormonal levels and organ functions, yoga aids in healing various ailments and promoting optimal health. While yoga may not "cure" diabetes, it offers valuable support in managing the condition. Diabetic patients can safely incorporate yoga into their treatment plans, following prescribed medical regimens. Regular and committed yoga practice can lead to significant improvements in glucose control and overall

body function. Therefore, consistent yoga practice has the potential to prevent and manage diabetes mellitus, contributing to a healthier population.

Reference

1. Bhole MV. Abstracts and Bibliography of articles on Yoga from Kaivalyadhama. Lonavala, India, Published by Kaivalyadhama SMYM Samiti, 1985, 1988.

2.3. Desai BP. "Influence of yogic treatment on serum lipase activity in diabetics". Yoga Mimamsa Vol. XXIII, 1985; 3(4):1-8.

4. Divekar MV, Bhat. Effect of yoga therapy in diabetes and obesity, Clinical diabetes update, Diab. Assoc. India. 1981.
5. Dobson M. Nature of the urine in diabetes. Medical Observations and Inquiries 1776; 5:298–310.
6. Funderburk, J. Science Studies Yoga-A Review of Physiological Data. Himalayan International Institute of Yoga Science and Philosophy of USA, 1977.
9. Iyengar BKS. Light on Yoga, revised ed. Schocken Books, New York, 1979.